विदेशी विद्वान्

लेखक

महावीरप्रसाद द्विवेदी

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

१९२७

प्रथम संस्करण]

[मूल्य १)

Published by
K. Mittra,
at The Indian Press, Ltd.,
Allahabad.

Printed by
A. Bose,
at The Indian Press, Ltd.,
Benares-Branch

निवेदन

मनुष्य की उन्नति, ख्याति और प्रतिष्ठा का एक-मात्र कारण उसके गुण होते हैं। गुणों का सम्बन्ध चाहे दान-धर्म्म से हो, चाहे परोपकार से हो, चाहे विद्वत्ता से हो, चाहे देश या समाज-सेवा से हो, उत्कर्ष का कारण होते वही हैं। गुणहीनों को प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त होती। गुण कहीं और किसी में भी क्यों न हों, वे सदा ही गृहणीय होते हैं—

गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः

चाहे वे अपने ही देश के निवासी में हों, चाहे अन्य देश के निवासी में, उनको ग्रहण करना ही चाहिए। उनके अनुसरण से मनुष्य का सदा ही कल्याण होता है।

इस पुस्तक में जिन ग्यारह जीवनचरितों का संग्रह है उनके नायक सभी विदेशी और सभी विद्वान हैं या थे। उनमें से आठ ऐसे हैं जिनकी ख्याति का कारण उनकी अपूर्व विद्वत्ता ही है। यह नहीं कि उनसे और गुणों का सम्पर्क ही न हो। मतलब इतना ही है कि और गुणों की तुलना में उनकी विद्वत्ता ही विशेष प्रशंसनीय है। शेष तीन में से एक की प्रसिद्धि का कारण स्वजाति-सेवा और शिक्षा-प्रेम, दूसरे का व्यवसाय-नैपुण्य और तीसरे का नूतन-धर्म्म-स्थापना है। परन्तु इन गुणों को भी विद्वत्तामूलक ही समझना चाहिए। और

बिद्वान् कहीं का क्यों न हो वह सदा ही आदरणीय और उसका चरित सदा ही कीर्तनीय होता है।

इस चरितमाला के चार चरित ऐसे पुरुषों के हैं जिन्होंने भारत से हज़ारों कोस दूर योरप में जन्म लेकर, केवल विद्याभिरुचि की उत्कट-प्रेरणा से, संस्कृत भाषा का अध्ययन किया और अनेक उपयोगी ग्रन्थों की रचना भी की। एक ने अरबी के सदृश क्लिष्ट भाषा का वृत्तान्त ज्ञान प्राप्त करके अरब के निवासी बिद्वानों तक से साधुवाद प्राप्त किये। अलबरूनी ने तो बड़े-बड़े कष्ट उठाकर यहाँ भारत में संस्कृत भाषा सीखी और वह अपनी भाषा में एक ऐसा ग्रन्थ लिखकर छोड़ गया जो अब तक बड़े ही महत्त्व का समझा जाता है।

जिनके चरित इस पुस्तक में निबद्ध हैं उनके गुण सर्वथा अनुकरणीय हैं। उनके पाठ से पाठक यदि कुछ भी न सीख सकें या कुछ भी न सीखना चाहें तो भी, आशा है, पढ़ने में खर्च हुए अपने समय को वे व्यर्थ गया न समझेंगे।

दौलतपुर, रायबरेली
१६ सितम्बर १९२७

महावीरप्रसाद द्विवेदी

विषय-सूची

लेखाङ्क	लेख-नाम	पृष्ठ
१	कोपर्निकस, गैलीलियो और न्यूटन ...	१
२	हर्बर्ट स्पेंसर	१०
३	कर्नल आलकट	२८
४	डाक्टर जी० थीबो, पी-एच० डी०, सी० आई० ई०	३४
५	मुग्धानलाचार्य	३९
६	डाक्टर कीलहार्न	६६
७	विलियम हार्स्टे	७०
८	अलबरूनी	७८
९	अध्यापक एडवर्ड हेनरी पामर	८८
१०	बुकर टी० वाशिंगटन	१०८
११	डाक्टर हर्मन जी० जैकोबी	१२७

विदेशी विद्वान्

१—कोपर्निकस, गैलीलियो और न्यूटन

कदर्थितस्यापि हि धैर्यवृत्तेर्न शक्यते धैर्यगुणः प्रमार्ष्टुम् ।
अधोमुखस्यापि तनूनपातो नाधः शिखा याति कदाचिदेव ॥

भर्तृहरि*

चार-पाँच सौ वर्ष पहले योरप में ज्योतिष-विद्या के अच्छे विद्वान् एक भी न थे। इस कारण, उस समय की प्रचलित कल्पनाओं के झूठे अथवा सच्चे होने का निर्णय ही कोई न कर सकता था। जो कुछ जिसने सुन रक्खा था, अथवा जो कुछ टालमी और अरिस्टाटल इत्यादि पुराने विद्वान् लिख गये थे, उसे ही सब लोग सत्य समझते थे। लोगों का पहले यह मत था कि पृथ्वी अचल है और ग्रह-उपग्रह सब उसके चारों ओर घूमते हैं। यह कल्पना ठीक न थी।

* धैर्यवान् पुरुषों की अवहेलना करने पर भी वे अपनी धीरता को नहीं छोड़ते। अग्नि को चाहे कोई जितना नीचा करे, उसकी शिखा सर्वैव ऊपर ही की ओर जाती है; नीचे की ओर नहीं।

यूरप में सबसे पहले जिसने ज्योतिष-विद्या का सच्चा ज्ञान प्राप्त किया उसका नाम कोपर्निकस था। प्रशिया देश में विश्चुला नदी के किनारे, थार्न नामक नगर में, १४७३ ईसवी के जनवरी महीने की १९वीं तारीख़ को, उसका जन्म हुआ। उसके माता-पिता धनवान् न थे; परन्तु निरे निर्धन भी न थे। उसने क्राको की पाठशाला में वैद्यक, गणित और ज्योतिष का अभ्यास अच्छी तरह किया। जब वह २३ वर्ष का हुआ तब पाठशाला छोड़कर इटली में आया और रोम नगर में गणित का अध्यापक हो गया। रोम में बहुत वर्षों तक रहकर और विद्या के बल से अपनी कीर्ति को दूर-दूर तक फैला कर, वह अपनी जन्म-भूमि को लौट गया। वहाँ अपने मामा की सहायता से उसे, गिरजाघर से सम्बन्ध रखनेवाली एक नौकरी मिली। कोपर्निकस ने ज्योतिष-विद्या का विचार यहीं मन लगाकर किया। पहले के ज्योतिषियों के सिद्धान्त उसने भ्रम से भरे हुए पाये। इसलिए बड़े ध्यान से ग्रहों की परीक्षा करके उसने यह सिद्धान्त निकाला कि सूर्य बीच में है और पृथ्वी इत्यादि दूसरे ग्रह उसकी प्रदक्षिणा करते हैं। यही सिद्धान्त ठीक है। कोपर्निकस ने जो पुस्तक इस विषय की लिखी वह १३ वर्षों तक बिना छपी पड़ी रही। उसके मरने के कुछ ही घण्टे पहले उसे उस पुस्तक की छपी हुई एक प्रति देखने को मिली। उसने हाथ से छूकर ही सन्तोष माना और दूसरों के लाभ के लिए उसे छोड़कर परलोक की राह ली। रोम में एक धर्मा-

धिकारी रहता है। उसे पोप कहते हैं। धर्म की बातों में वह सबका गुरु माना जाता है। उस समय पोप को यहाँ तक अधिकार था कि धर्म-ग्रन्थों के प्रतिकूल जो मनुष्य एक शब्द भी कहता था उसे कड़ा दण्ड मिलता था। धार्म्मिक लोगों की समझ में पृथ्वी अचल थी; परन्तु कापर्निकस की पुस्तक में यह बात झूठ सिद्ध की गई थी। इसलिए उसे अपनी पुस्तक के छपाने में बहुत दिन तक सङ्कोच रहा। परन्तु मित्रों के कहने से अपना हृदय कड़ा करके उसने उसे छपा ही दिया। छपने के अनन्तर यदि वह कुछ दिन जीता रहता तो शायद उसे वही दुःख भोगने पड़ते जो गैलीलियो को भोगने पड़े। ७० वर्ष की अवस्था में कापर्निकस की मृत्यु हुई।

कापर्निकस के अनन्तर योरप में दूसरा प्रसिद्ध ज्योतिषी गैलीलियो हुआ। उसका जन्म, इटली के पिसा नामक नगर में १५६४ ईसवी में, हुआ। गैलीलियो के बाप की इच्छा थी कि वह वैद्यक पढ़े; परन्तु उसको वह विषय अच्छा नहीं लगा। उसे गणित और पदार्थ-विज्ञान अधिक प्रिय थे। इसलिए उसने यही दो विषय पढ़ना आरम्भ किया। इन विषयों में वह बहुत ही प्रवीण हो गया। उसकी विद्या और बुद्धि से प्रसन्न होकर पिसा की पाठशाला के अधिकारियों ने उसे उस पाठशाला में गणित का अध्यापक नियत किया। कुछ दिनों में गणित और पदार्थ-विज्ञान में गैलीलियो इतना निपुण हो गया कि अरिस्टाटल और टालमी इत्यादि प्राचीन विद्वानों की भूलें वह

दिखलाने लगा और अनेक प्रकार के प्रयोगों द्वारा उनको सत्य को सिद्ध करके बतलाने लगा। पुराने विद्वानों के पक्षपातियों को यह बात बहुत बुरी लगी। वे गैलीलियो के शत्रु हो गये और उसे तङ्ग करने लगे। इसलिए गैलीलियो पिसा की पाठ-शाला को छोड़कर पादुआ को चला गया और १८ वर्ष तक वहाँ की पाठशाला में उसने गणित के अध्यापक का काम किया। इस बीच में उसकी विद्या और बुद्धि की यहाँ तक प्रशंसा हुई कि पिसा की पाठशाला के अधिकारियों ने उसे फिर बुला लिया और उसका मासिक वेतन बढ़ाकर उसे बड़ा गणित के अध्यापक के पद पर नियत किया।

गैलीलियो ने अपनी विद्या के बल से सबसे पहले दूरबीन बनाने की युक्ति निकाली। पहले उसने जो दूरबीन बनाई उससे जो पदार्थ देखे जाते थे वे तिगुने बड़े दिखलाई देते थे; परन्तु धीरे-धीरे उसने उसको यहाँ तक सुधारा कि उसके द्वारा देखने से पदार्थ तीस गुने बड़े अथवा तीस गुने निकट दिखलाई पड़ने लगे। इस दूरबीन के द्वारा उसने सूर्य, चन्द्रमा और शनैश्चर इत्यादि ग्रहों को देखकर उनके आकार, उनकी चाल और उनकी बनावट के विषय में ज्ञान प्राप्त किया और यह कहकर कोपर्निकस के मत को पुष्ट किया कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है। पहले पहल जब उसने यह बात प्रकाशित की कि पृथ्वी के समान चन्द्रमा पर भी पर्वत, गड्ढे और ऊँचे-नीचे स्थान हैं तब पुराने विचार के लोग उस पर

जल उठे। वे लोग उसको खुल्लमखुल्ला गालियाँ देने लगे और उसका यहाँ तक द्वेष करने लगे कि रोम के प्रधान धर्माधिकारी पोप तक से उन्होंने उसकी शिकायत की।

१६१५ ईसवी में बाइबिल के प्रतिकूल मत प्रचलित करने के इलज़ाम पर पोप ने गैलीलियो पर अभियोग चलाया। उस समय धर्म के ग्रन्थों के प्रतिकूल यदि कोई कुछ भी कहता था तो उसे कड़ा दण्ड मिलता था। इसी बात पर ब्रूनो नामक एक विद्वान् जीता ही जला दिया गया था और अण्टोनियो डिडामिनस ६ वर्ष तक कारागार में रहकर वहीं मर गया था। इन्हीं कारणों से डरकर शायद गैलीलियो ने न्यायाधीश के आज्ञानुसार यह स्वीकार करके अपनी रक्षा की कि पृथ्वी के फिरने के विषय में मेरा मत ठीक नहीं। उससे इस प्रकार स्वीकार कराकर न्यायाधीश ने उसे छोड़ दिया और वह अत्यन्त दुःखित होकर अपने घर लौट आया।

गैलीलियो ने यद्यपि न्यायाधीश के सामने यह कह दिया कि मेरा मत ठीक नहीं; बाइबिल में जो कुछ लिखा है वही ठीक है; तथापि वह ग्रहों के विषय में ज्ञान प्राप्त करता ही रहा। १६२३ ईसवी में, रोम में, दूसरा पोप धर्माधिकारी हुआ। वह गैलीलियो का मित्र था; इसलिए उसे फिर धीरज आया और उसने एक ऐसी पुस्तक लिखी जिससे यह सिद्ध होता था कि प्राचीन मत की स्थापना करनेवाले मूर्ख थे। इस पुस्तक के निकलते ही लोगों ने फिर गैलीलियो की शिकायत

पोप से की। इस पोप ने भी जब देखा कि प्रायः देश का देश ही गैलीलियो का विरोधी है तब उसने उसे फिर रोम में बुलाया। इस समय गैलीलियो ७० वर्ष का बुड्ढा हो गया था। रोम में पहली बार का जैसा अभियोग फिर उस पर चलाया। कई महीने गैलीलियो रोम में रहा और उसे वहाँ बहुत कष्ट मिला। अन्त में, अत्यन्त दुःखित होकर, और बचने का कोई दूसरा उपाय न देखकर, न्यायाधीश की आज्ञा के अनुसार, उसने अपने मुख से इस प्रकार कहा—"यह झूठ है कि पृथ्वी चलती है। मुझसे अपराध हुआ जो मैंने वैसा कहा। मैं क्षमा माँगता हूँ। आज से जो आप कहेंगे उसी पर मैं विश्वास करूँगा। यदि फिर मुझसे ऐसी भूल हो तो आप जो दण्ड चाहें मुझे दें। मैं उसे चुपचाप सहन करूँगा।" विवश होकर, यह सब कह चुकने पर गैलीलियो को इतना क्रोध आया और मन ही मन वह इतना जल-भुन गया कि पृथ्वी को लात से मारकर उसने धीरे से कहा—"यह अब भी चल रही है।"

कुछ दिनों में गैलीलियो अन्धा हो गया और ७८ वर्ष की अवस्था में, १६४२ ईसवी की ८ वीं जनवरी को, वह पर लोक-वासी हुआ। गैलीलियो, अपने समय में, महाविद्वान और महाज्योतिषी हो गया। उसकी बुद्धि बड़ी तीव्र थी। यदि गैलीलियो न उत्पन्न होता और दूरबीन बनाकर ग्रहों का सच्चा-सच्चा ज्ञान न प्राप्त करता तो ज्योतिष-विद्या आज इस दशा को कभी न पहुँचती।



जिस वर्ष गैलीलियो की मृत्यु हुई उसी वर्ष, अर्थात् १६४२ ईसवी के दिसम्बर महीने की २५ तारीख़ को, इँगलैंड में, न्यूटन का जन्म हुआ। न्यूटन का बाप न्यूटन के लड़कपन ही में मर गया था। इसलिए उसकी माँ ने उसके लिखने-पढ़ने का प्रबन्ध किया। १२ वर्ष की अवस्था में वह ग्रन्थम की पाठशाला में भरती हुआ। ६ वर्ष तक उसने वहाँ विद्याध्ययन किया। उसके अनन्तर वह कैम्ब्रिज के ट्रिनिटी कालेज में पढ़ने लगा। न्यूटन ने २२ वर्ष की अवस्था में बी० ए० की और २५ वर्ष की अवस्था में एम० ए० की परीक्षा पास की। गणित और यन्त्र बनाने की विद्या से उसे बड़ा प्रेम था। पाठशाला में छुट्टी होने पर जब और लड़के खेल-कूद में लग जाते थे तब वह छोटे-छोटे यन्त्र बनाया करता था। उसने एक छोटी सी पवन-चक्की बनाई थी जो वायु के वेग से आप ही आप चलती थी। उसे देखकर वह मन ही मन बहुत प्रसन्न होता था। उसने लकड़ी की एक घड़ी भी बनाई थी; वह समय बतलाने का पूरा-पूरा काम दे सकती थी। जब वह कैम्ब्रिज के विद्यालय में था तभी उसने यह बात सिद्ध करके दिखला दी थी कि प्रकाश की प्रत्येक किरण में सात प्रकार के रङ्ग रहते हैं। १६७२ ईसवी में न्यूटन को ट्रिनिटी कालेज में गणित के अध्यापक का पद मिला। कुछ काल तक वह पार्लियामेण्ट का सभासद भी रहा। उसकी मान-मर्यादा प्रतिदिन बढ़ती ही गई। यद्यपि उसका यश देश-

देशान्तर में भेज गया था। यद्यपि धन-सम्बन्धी इसकी दशा अच्छी नहीं थी। इसलिए १६९६ ईसवी में सरकार ने उसे टकसाल का अधिकारी बनाया। कुछ दिनों में यहाँ उसका वेतन (१५००) मासिक हो गया। इस पद पर वह अन्त तक बना रहा और अपना काम बड़ी योग्यता से उसने किया। १७०५ ईसवी में उसे "सर" की पदवी मिली। तब से वह सर आइज़क न्यूटन कहलाया जाने लगा।

गैलीलियो की बनाई हुई दूरबीन में कई दोष थे। इस-लिए न्यूटन ने एक नई दूरबीन बनाकर गैलीलियो की दूरबीन से देखने में जो बाधायें आती थीं उनको दूर कर दिया। हमारे यहाँ के प्राचीन ज्योतिषी तो यह जानते थे कि पृथ्वी में आकर्षण-शक्ति है, अर्थात् जड़ पदार्थों को वह अपनी ओर खींच लेती है; परन्तु, न्यूटन के समय तक, योरप में इस बात को कोई न जानता था। एक बार न्यूटन ने अपने बाग़ में एक सेव को पेड़ से गिरकर पृथ्वी की ओर आते देखा। उसी समय से वह उसके गिरने का कारण सोचने लगा और अन्त में गुरुत्वा-कर्षण के नियम का पता उसने लगाया। इस नियम के जानने से बड़ा लाभ हुआ; क्योंकि इसी के अनुसार सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी तथा और-और ग्रह अपनी-अपनी कक्षाओं पर घूमते हैं।

१७२६ ईसवी में, ८४ वर्ष का होकर, न्यूटन परलोकवासी हुआ। उसने अपनी सारी अवस्था गणित-विद्या की किताबें लिखने और विज्ञान-सम्बन्धी नई-नई बातें जानने में बिताई।

न्यूटन बहुत सवेरे उठता था और अपना सारा काम समय पर करता था। उसको क्रोध छू तक नहीं गया था। वर्षों के परिश्रम से लिखे गये उसके काग़ज़, एक बार उसके डायमंड नामक कुत्ते ने, मेज़ पर मोमबत्ती गिराकर, जला दिये। परन्तु उसने इतनी हानि होने पर भी क्रोध नहीं किया; केवल इतना ही कहा कि "डायमंड! तू नहीं जानता, तूने मेरी कितनी हानि की है।" न्यूटन यदि इँगलेंड में न उत्पन्न होता तो शायद गैलीलियो की ऐसी विपत्ति उसे भी भोगनी पड़ती। वह बड़ा प्रसिद्ध ज्योतिषी, गणित-शास्त्र का ज्ञाता और तत्त्वज्ञानी हो गया। जहाँ उसका शरीर गड़ा है वहाँ पत्थर के ऊपर एक लेख खुदा हुआ है। उसका सारांश यह है—"यहाँ सर आइज़क न्यूटन का शरीर रक्खा है। इस विद्वान् ने अपनी विद्या के बल से ग्रहों की चाल और उनके आकार का पता लगाया; ज्वार-भाटा होने का कारण खोज निकाला; और प्रकाश की किरणों में रङ्गों के उत्पन्न होने का कारण जाना।" इतना विद्वान् होने पर भी, मरने के समय, उसने कहा कि "मैंने कुछ नहीं किया। मैं समुद्र के किनारे एक लड़के के समान खेलता सा रहा। समुद्र में अनेक प्रकार के रत्न भरे रहे; परन्तु दो-एक कङ्कड़-पत्थर अथवा सीपियों को छोड़कर और कुछ मेरे हाथ न आया।" अर्थात् ज्ञानरूपी समुद्र में से केवल दो-एक बूँद मुझे मिले; अधिक नहीं। सत्य है; विद्या की शोभा नम्रता दिखाने ही में है।

[अप्रेल १९०३

१—हर्बर्ट स्पेन्सर

यह संसार प्रकृति और पुरुष का लीला-स्थल है। बिना इन दोनों का संयोग हुए संसार क्या कुछ भी नहीं बन सकता। संसार में दृष्टादृष्ट जो कुछ है प्रकृति का खेल है; इस सब खेल का दिखानेवाला पुरुष है। प्रकृति का दूसरा नाम पदार्थ है और पुरुष का दूसरा नाम शक्ति। जितने पदार्थ हैं सबमें कोई न कोई शक्ति विद्यमान है। पानी से भाफ, भाफ से मेघ और मेघों से फिर पानी। रुई से सूत, सूत से कपड़े और कपड़ों से फिर रुई। बीज से वृक्ष, वृक्ष से फूल, फूल से फल और फल से फिर बीज। इसी तरह संसार में उलट-फेर लगा रहता है और प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त रहनेवाली शक्ति-विशेष इसका कारण है। जब से सृष्टि हुई तब से प्रकृति-पुरुष का झंझट जो शुरू हुआ तो अब तक बराबर चला जा रहा है। यदि प्रकृति निर्बल और पुरुष प्रबल हो जाता है तो उसे विद्वान लोग उत्क्रान्ति कहते हैं और इसकी विपरीत घटना को अपक्रान्ति। संसार में जितने व्यापार हैं सबका कारण इस उत्क्रान्ति और अपक्रान्ति ही के आघात-विघात हैं। जिन नियमों—जिन सिद्धान्तों—के अनुसार यह सब होता है उनकी विवेचना करनेवालों का नाम तत्त्वदर्शी है। ऐसे तत्त्व-दर्शियों के शिरोमणि हर्बर्ट स्पेन्सर का संक्षिप्त चरित सुनिए।

इँगलैंड के डर्बी नामक शहर में २७ एप्रिल १८२० को स्पेन्सर का जन्म हुआ। उसका पिता वहाँ एक मदरसे में अध्यापक था और चचा पादरी था। खर्च अधिक था। स्कूल की नौकरी में जो आमदनी होती थी उससे काम न चलता था। इससे स्पेन्सर का पिता लड़कों के घर जाकर पढ़ाया करता था। इसमें अधिक मिहनत पड़ती थी, जिसका फल यह हुआ कि वह बीमार हो गया और मदरसे से उसे इस्तेफा दे देना पड़ा। जब उसकी तबीयत कुछ अच्छी हुई तब उसने कलाबत्तू की डोरियाँ तैयार करने का एक कारखाना खोला। उसमें उसे नुकसान हुआ। जिसने जन्म भर अध्ययन और अध्यापन किया उससे इस तरह के काम भला कैसे हो सकते थे? अन्त में कारखाना बन्द करना पड़ा। तब स्पेन्सर के पिता ने अपना एक मदरसा अलग खोल लिया। इसमें उसे कामयाबी हुई और घर का खर्च अच्छी तरह चलने लगा।

हर्बर्ट स्पेन्सर लड़कपन में बहुत कमज़ोर था। सात-आठ वर्ष की उम्र तक उसने कुछ भी नहीं पढ़ा-लिखा। उसकी कमज़ोरी देखकर उसका पिता भी कुछ न कहता था। उसने अपने लड़के पर पढ़ने लिखने के लिए कभी दबाव नहीं डाला। हर्बर्ट को छोटी ही उम्र में विज्ञान का चसका लग गया था। वह दूर-दूर तक घूमने निकल जाया करता था और तरह-तरह के कीड़े-मकोड़े और पौधे लाकर घर पर जमा करता था। इसी को उसकी विज्ञान-शिक्षा का प्रारम्भ समझिए। पिता इन

बातों से अलग न होता था। वह उलटा पुत्र को उत्साहित करता था। उसका कहना था कि जो बात तुम्हें अच्छी लगे वही करो। इसी से स्पेन्सर कीड़ों-मकोड़ों के रूपान्तर और पौधों में होनेवाले फेरफार देखने ही में कई घंटे लगा रहता।

स्पेन्सर ने किसी मदरसे में शिक्षा नहीं पाई। घर ही पर स्पेन्सर के पिता और चचा ने उसे शिक्षा दी। हाँ, कुछ दिन के लिए वह एक मदरसे में ज़रूर गया था। वहाँ उसके क्लास में १२ लड़के थे। वहाँ पाठ सुनाने का समय आने पर हर्बर्ट बेचारे को एकदम सब लड़कों के नीचे जाना पड़ता था। पर गणित इत्यादि वैज्ञानिक शिक्षा का समय आते ही वह सबसे ऊपर पहुँच जाता था। प्रायः प्रति दिन ऐसा ही होता था। स्पेन्सर का पिता अच्छा विद्वान् था और चचा भी। इससे वे दोनों जब मिलते थे तब किसी न किसी गम्भीर शास्त्र-विषय की चर्चा ज़रूर करते थे। उनकी बातें स्पेन्सर ध्यान से सुनता था और उनसे बहुत फ़ायदा उठाता था। पुत्र की प्रवृत्ति वैज्ञानिक विषयों की ओर देखकर पिता ने उसे और भी अधिक उत्तेजना दी और अपनी सारी विद्या-बुद्धि खर्च करके पुत्र के हृदय पर शास्त्र के मोटे-मोटे सिद्धान्त खचित कर दिये। इससे यह न समझना चाहिए कि स्पेन्सर को पुस्तकावलोकन से प्रेम न था। प्रेम था और बहुत था। परन्तु विशेष करके वह शास्त्रीय विषयों ही की पुस्तकें देखा करता था।

स्पेन्सर को पहले पहल सैंडफ़र्ड ऐंड मर्टन (Sandford and Merton) नाम की किताब पढ़ाई गई। उसे स्पेन्सर ने बड़े चाव से पढ़ा। कुछ दिन में उसे पढ़ने का इतना शौक़ बढ़ा कि दिन-दिन रात-रात भर उसके हाथ से किताब न छूटती थी। उसकी माँ न चाहती थी कि वह इतनी मिहनत करे, क्योंकि वह बहुत कमज़ोर था। इससे रात को वह अकसर स्पेन्सर के कमरे में सोने के पहले यह देखने आया करती थी कि कहीं वह पढ़ तो नहीं रहा। उसे आती देख स्पेन्सर मोमबत्ती को गुल करके चुपचाप लेट रहता था, जिसमें उसकी माँ समझे कि वह सो रहा है। पर उसके चले जाने पर वह फिर पढ़ना शुरू कर देता था।

कोई ११ वर्ष की उम्र में स्पेन्सर की कमज़ोरी जाती रही। वह मज़बूत हो गया। वह पढ़ता भी था और घूमता-फिरता भी था। इससे उसके दिमाग़ पर अधिक बोझ नहीं पड़ा और इसी से उसके शरीर में बल भी आ गया। स्पेन्सर बड़ा निडर और साहसी था। एक दफ़े वह अपने चचा के घर से अकेला अपने घर पैदल चला आया। पहले दिन वह ४८ मील चला, दूसरे दिन ४७ मील! बिना सबूत के स्पेन्सर किसी की बात न मानता था। चाहे जो हो, जब तक वह उसकी बात की सचाई को सबूत की कसौटी पर न कस लेता था, या ख़ुद तजरिबे से उसकी सचाई को न जान लेता था, तब तक कभी उस पर विश्वास न करता था। यह विलक्षणता उसमें लड़कपन ही से थी। यह आदत उसकी मरने तक नहीं

छूटे। इसी के प्रभाव से उसने अर्थ-तत्त्व-ज्ञानियों के सिद्धान्तों को चुपचाप न मानकर उनकी परीक्षा की और उनके गलत अंशों का साहसपूर्वक खण्डन किया।

सोलह-सत्रह वर्ष की उम्र तक स्पेन्सर को घर पर ही शिक्षा मिलती रही। इतने दिनों में उसने गणित-शास्त्र, यन्त्र-शास्त्र, चित्र-विद्या आदि में अच्छा अभ्यास कर लिया। स्पेन्सर को संस्कृत की समकक्ष लैटिन और ग्रीक आदि पुरानी भाषाओं से बिलकुल प्रेम न था और विश्वविद्यालय में उनको पढ़े बिना काम नहीं चल सकता। इससे वह किसी कालेज में भरती नहीं हुआ। अब मुश्किल यह हुई कि कालेज की शिक्षा पाये बिना नौकरी कैसे मिल सकेगी। उस समय रेलवे ही का महकमा ऐसा था जहां विश्वविद्यालय की सर्टीफ़िकेट दरकार न होती थी। इस कारण स्पेन्सर ने रेलवे का काम सीखना शुरू किया और १७ वर्ष की उम्र में वह एंजिनियर हो गया। आठ वर्ष तक वह इस काम को करता रहा पर विद्या का उसे ऐसा व्यसन था कि इसके आगे रेलवे का काम उसे अच्छा न लगा। उसे छोड़कर वह अलग हो गया। नौकरी की हालत में एक एञ्जिनियरी की सामयिक पुस्तक में वह लेख भी लिखता रहा था। इससे लिखने में उसे अच्छा अभ्यास हो गया। १८४२ ईसवी में उसने नान-कनफ़ारमिस्ट (Non-Conformist) नामक पुस्तक में "राजा का वास्तविक अधिकार" नाम की लेख-मालिका शुरू की। वह पीछे से पुस्तकाकार प्रकाशित हुई।

इसके बाद स्पेन्सर "एकनोमिस्ट" (Economist) नामक एक सामयिक पुस्तक का सहकारी सम्पादक हो गया और कोई ५ वर्ष तक बना रहा। सम्पादकता करना और लेख लिखना ही अब उसका एक-मात्र व्यवसाय हुआ। इसमें उसने बहुत तरक्की की। कुछ दिनों में वह लन्दन चला आया और वहीं स्थिर होकर रहने लगा। वहा पर उसने "वेस्ट मिनिस्टर रिव्यू" (Westminister Review) में लेख लिखने शुरू किये। इससे उसका बड़ा नाम हुआ। लिखने का अभ्यास बढ़ता गया। धीरे-धीरे उसकी लेखन-शक्ति बहुत ही प्रबल हो उठी। ३० वर्ष की उम्र में उसने "सोशल स्टैटिक्स" (Social Statics) नाम की किताब लिखी। उसमें सामाजिक और राजनैतिक विषयों का उसने बहुत ही योग्यतापूर्ण विचार किया। उसकी विचार-श्रृंखला और तर्कना-प्रणाली को देखकर बड़े-बड़े विद्वानों ने दांतों के नीचे उँगली दबाई। वह जितना ही निर्भय था उतना ही सत्यप्रिय भी था। उस समय तक इन विषयों पर विद्वानों ने जो कुछ लिखा था उसका जितना अंश स्पेन्सर ने प्रामादिक समझा सबका बड़ी ही तीव्रता से खण्डन किया। प्राय: सबसे प्रतिकूलता, सबकी समालोचना, सबका खण्डन उसने किया। किसी को आपने नहीं छोड़ा। पर इस पुस्तक का आदर जैसा होना चाहिए था नहीं हुआ।

स्पेन्सर की बुद्धि का झुकाव विशेष करके सृष्टि-रचना और अध्यात्म-विद्या की तरफ था। यह प्रवृत्ति प्रतिदिन

प्रवृत्ती होती गई कि [illegible] वह इन विषयों में अधिकाधिक निमग्न रहने लगा [illegible] वह [illegible] सत्यान्वेषणों [illegible] गया, [illegible] के गूढ़ सिद्धान्त उसने निकाले, संसार के सारे [illegible] व्यापार इन्हीं नियमों के अनुसार होते हैं । इस बात को सप्रमाण सिद्ध करने के लिए उसने अपरिमित श्रम किया । १८४६-४७ में उसने एक नया यन्त्र बनाकर उसका "पेटेन्ट" भी प्राप्त किया । पर उससे उसे विशेष लाभ न हुआ । शायद अपनी अर्थकृच्छ्रता दूर करने ही के लिए उसने ऐसा किया । तथापि उसने अपनी निर्धनता की कुछ भी परवा न की, उसके कारण वह कभी दुःखित नहीं हुआ । अपना काम वह बराबर करता गया । जिन-जिन सिद्धान्तों का पता उसे लगता गया उन-उनको वह बड़ी योग्यता, आस्था और निर्भयता के साथ प्रकट करता गया । यह सृष्टि क्या ईश्वर ने पैदा की है, या पदार्थों में ही कोई ऐसी शक्ति है जिसके कारण वे आप ही आप उत्पन्न हो गये हैं ? जन्म क्या है, पुनर्जन्म क्या है, मरण क्या है, धर्म्म क्या है, पाप-पुण्य क्या है, सुख-दुःख क्या है ? संसार में जितनी घटनायें होती हैं, किन नियमों के अनुसार होती हैं ? दिन-रात वह इन्हीं बातों के विचार और मनन में संलग्न रहता था । इन विषयों के मनन का अभ्यास उसने यहाँ तक बढ़ाया कि संसार में कोई भी ऐसा शास्त्रीय विषय शेष न रहा जो उसके मानसिक विचारों की कसौटी पर न कसा गया हो । सब विषयों का उसने

विचार कर डाला। उसकी बुद्धि नये-नये सिद्धान्तों के निकालने की एक विलक्षण यन्त्र बन बैठी। कोई ५० वर्ष तक उसने यह काम किया और अपने नये-नये सिद्धान्तों के द्वारा सारे संसार को चकित और स्तम्भित कर दिया।

प्रसिद्ध विद्वान् डार्विन, स्पेन्सर का समकालीन था। १८५९ के लगभग उसने "आरिजिन आफ़ स्पिशीज़" (Origin of Species) अर्थात् "प्राणियों की उत्पत्ति" नाम की पुस्तक लिखी। उसमें उत्क्रान्ति, किंवा परिणामिवाद, के आधार पर उसने प्राणियों की उत्पत्ति सिद्ध की। परन्तु इस उत्पत्ति के अनेक सिद्धान्त स्पेन्सर ने पहले ही से निश्चित कर लिये थे। इस बात को डारविन ने साफ़-साफ़ स्वीकार किया है।

डारविन की पूर्वोक्त पुस्तक के निकलने के कोई चार वर्ष बाद स्पेन्सर की "मानसशास्त्र के मूलतत्त्व" (Principles of Psychology) नामक पुस्तक निकली। उसको लिखने में स्पेन्सर ने इतनी मिहनत की कि सिर्फ़ १८ महीने में वह पुस्तक उसने तैयार कर दी। इस कारण उसकी नीरोगता में बाधा आ गई। तबीयत उसकी बहुत ही कमज़ोर हो गई और कोई दो-ढाई वर्ष तक वह कोई नई किताब नहीं लिख सका। हाँ, दिल बहलाने के लिए सामयिक पुस्तकों में वह कभी-कभी लेख लिखता रहा। इस बीच में स्पेन्सर का यश दूर-दूर तक फैल गया। "मानसशास्त्र के मूलतत्त्व" लिखने से उसका बड़ा नाम हुआ। वह अब एक विचक्षण दार्शनिक गिना

जाने लगा। इस इन्सान ने तत्त्वज्ञान के प्रवाह को एक बिल-कुल ही नये मार्ग में ले जाकर डाल दिया।

किसी नये लेखक या नये विद्वान् के गुणों की कदर होने में बहुधा बहुत दिन लगते हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर ने यद्यपि ऐसी अच्छी-अच्छी किताबें लिखीं; परन्तु उनकी बहुत ही कम कदर हुई। स्पेन्सर की पहली किताब "सोशल स्टैटिक्स" को किसी प्रकाशक या पुस्तक-विक्रेता ने लेना और छपाकर प्रकाशित करना मंजूर न किया। तब स्पेन्सर ने उसकी ७५० कापियाँ खुद ही छपवाईं। उनमें से कुछ तो उसने मुफ्त बाँट दीं और बाकी किताबों के बिकने में कोई चौदह-पन्द्रह वर्ष लगे! यही दशा "मानसशास्त्र के मूलतत्त्व" की हुई। उसे भी छपाना किसी ने स्वीकार न किया। अन्त में स्पेन्सर ही ने उसे भी प्रकाशित किया। उसे भी बिकने में दस-बारह वर्ष लगे। इन किताबों को उसने किताब बेचनेवालों को कमीशन पर बेचने के लिए दे दिया था। स्पेन्सर को ये किताबें लिखने से धन-सम्बन्धी लाभ तो कुछ हुआ नहीं, हानि ख़ूब हुई। उसने जान लिया कि इस तरह की किताबों की कदर नहीं है। हाँ, यदि वह उपन्यास लिखता तो उसे ख़ातिरख़्वाह आमदनी होती। जब इँगलैंड में इस तरह की किताबों का इतना अनादर हुआ तब यदि हिन्दुस्तान में इनको कोई न पूछे तो आश्चर्य ही क्या है?

यद्यपि स्पेन्सर की आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं रही तथापि वह अपनी निर्धनता के कारण विचलित नहीं हुआ

उसे आडम्बर बिलकुल पसन्द न था। इससे उसका ख़र्च भी कम था। जो कुछ उसे मिलता था उसी से वह सन्तुष्ट रहता था। यद्यपि अपनी पूर्वोक्त दोनों पुस्तकें छपाने में उसका बहुत सा रुपया बरबाद हो गया तथापि उसने किसी से आर्थिक सहायता नहीं ली। कुछ उदार लोगों ने उसकी सहायता करना भी चाहा; पर उसने कृतज्ञतापूर्वक उसे लेने से इनकार कर दिया। पुस्तक-प्रकाशन में स्पेन्सर की कोई १५,००० रुपये की हानि हुई। यह सुनकर अमेरिका के कुछ उदार लोगों ने उसे २२,५०० रुपये भेजे। परन्तु उसने यह रुपया भी लेना नहीं स्वीकार किया।

हर्बर्ट स्पेन्सर की सबसे प्रसिद्ध पुस्तक "सिस्टम आफ़ सिन्थेटिक फ़िलासफ़ी" (A System of Synthetic Philosophy) अर्थात् संयोगात्मक-तत्त्वज्ञान-पद्धति है। १८६० ईसवी में उसे स्पेन्सर ने लिखना शुरू किया। बीच में उसे धन-सम्बन्धी और शरीर-सम्बन्धी यद्यपि अनेक विघ्न उपस्थित हुए तथापि ३६ वर्ष तक अविश्रान्त परिश्रम करके उसे उसने समाप्त ही करके छोड़ा। इस पुस्तक में उसने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन बड़ी ही योग्यता से किया है। संसार में जो कुछ दृश्य अथवा अदृश्य है सबकी उत्पत्ति उसने अपने उत्क्रान्ति मत के आधार पर सिद्ध कर दिखाई। इस प्रचण्ड पुस्तक को उसने पाँच भागों में विभक्त किया और दस जिल्दों में प्रकाशित कराया। उनका विवरण इस तरह है—

१ फ़र्स्ट प्रिंसिपल्स (First Principles) अर्थात् प्राथमिक सिद्धान्त १ जिल्द।

२ प्रिंसिपल्स आफ़ बायोलजी (Principles of Biology) जीवनशास्त्र के मूलतत्त्व २ जिल्द।

३ प्रिंसिपल्स आफ़ साइकालजी (Principles of Psychology) मानसशास्त्र के मूलतत्त्व २ जिल्द

४ प्रिंसिपल्स आफ़ सोशियालजी (Principles of Sociology) समाजशास्त्र के मूलतत्त्व ३ जिल्द

५ प्रिंसिपल्स आफ़ एथिक्स (Principles of Ethics) नीतिशास्त्र के मूलतत्त्व २ जिल्द।

स्पेन्सर के इस ग्रन्थ ने उसे इस नश्वर संसार में अमर कर दिया। उसका नाम देश-देशान्तर में विदित हो गया। वह वर्तमान युग के तत्त्वज्ञानियों का राजा माना जाने लगा। इस पुस्तक के प्रथम भाग के दो खण्ड हैं। एक का नाम अज्ञेय-मीमांसा (The Unknowable) और दूसरे का ज्ञेय-मीमांसा (The Knowable) है। हमारी प्रार्थना है कि जो सज्जन इस पुस्तक को पढ़ सकते हों वे एक बार अवश्य पढ़ें; और स्पेन्सर के प्रकृति-पुरुष आदि विषयक सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त करें; और इस बात का भी विचार करें कि इस विषय में इस देश के तत्त्वज्ञानियों और स्पेन्सर के सिद्धान्तों में क्या तारतम्य है।

इस इतनी बड़ी पुस्तक के प्रकाशित करने में स्पेन्सर को अनेक कठिनाइयाँ हुईं। किसी ने उसे छापना मंजूर न

किया। छापे कोई क्यों? कोई ऐसी किताबों को पूछे भी? निदान लाचार होकर स्पेन्सर ने इस पुस्तक के थोड़े-थोड़े अंश को त्रैमासिक पुस्तक के रूप में निकालना शुरू किया। परन्तु फिर भी ग्राहकों की कमी रही। उसे बराबर घाटा होता गया। जब वह इस पुस्तक की पहली तीन जिल्दें निकाल चुका तब हिसाब करने पर उसे मालूम हुआ कि कोई १५ वर्ष में उसे अठारह हज़ार रुपये का घाटा रहा! स्पेन्सर ही ऐसा था जो इतना घाटा उठा सका! अब उसने इरादा किया कि इस पुस्तक की अगली जिल्दों का प्रकाशित होना बन्द कर दिया जाय! परन्तु सौभाग्यवश बन्द करने का समय नहीं आया। जैसे-जैसे उसकी प्रसिद्धि होती गई वैसे ही वैसे उसकी किताबों की बिक्री भी बढ़ती गई। परन्तु जो घाटा स्पेन्सर ने उठाया था उसे पूरा होने में २४ वर्ष लगे! इसके बाद उसे यथेच्छ आमदनी होने लगी और फिर कभी उसे अपनी आर्थिक अवस्था के सम्बन्ध में शिकायत करने का मौक़ा नहीं मिला। उसने अपनी किसी-किसी किताब के छपाने और प्रकाशित करने में, बिक्री से होनेवाली आमदनी का कुछ भी ख़याल न करके, हज़ारों रुपये ख़र्च कर दिये। समाजशास्त्र-सम्बन्धी अकेली एक पुस्तक के छपाने में उसने कोई ४४ हज़ार रुपये बरबाद कर दिये! इस बहुत बड़ी रकम के ख़र्च करने के विषय में उसने विनोद के तौर पर लिखा है कि यदि मेरी उम्र १०० वर्ष से

भी अधिक होने पर भी हमें इस कर्ज के वसूल होने की कोई आशा नहीं।

हर्बर्ट स्पेन्सर ने और भी कितनी ही उत्तमोत्तम पुस्तकें लिखी हैं। उनमें से दो-चार के नाम हम नीचे देते हैं—

१ फैक्ट्स् ऐंड कामेंट्स् (Facts and Comments) यथार्थता और टीका।

२ एसेज़् (Essays) निबन्ध, ३ जिल्द।

३ वेरिअस फ्रैगमेंट्स (Various Fragments) बहुत सी फुटकर बातें।

४ दि स्टडी आफ् सोशियालजी (The Study of Sociology) समाजशास्त्र का अध्ययन।

५ एजुकेशन (Education) शिक्षा।

इनके सिवा उसने और भी कितनी ही छोटी-बड़ी किताबें लिखी हैं।

स्पेन्सर की किताबों में "शिक्षा" बहुत ही उपयोगी किताब है। योरप, अमेरिका और एशिया सब कहीं इसकी बेहद क़दर हुई है। कोई बीस-बाईस भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ है। चीनी, जापानी, अरबी यहां तक कि संस्कृत तक में इसका रूपान्तर किया गया है। आज तक इसकी लाखों कापियाँ छपकर बिक गई हैं। इसका हिन्दी अनुवाद प्रयाग के इंडियन प्रेस ने प्रकाशित किया है। यह पुस्तक सर्वमान्य है। शिक्षा के विषय में यह अद्वितीय है। विद्वानों का

ऐसी ही राय है। इसमें शिक्षा की जैसी मीमांसा की गई है वैसी आज तक किसी ने नहीं की। शारीरिक, मानसिक और नैतिक सब प्रकार की शिक्षाओं की, बड़ी ही योग्यता से, इसमें मीमांसा हुई है। स्पेन्सर ने विज्ञान-विद्या ही को सबसे अधिक उपयोगी और सबसे अधिक मूल्यवान् शिक्षा ठहराया है। परन्तु, अफ़सोस, हिन्दुस्तान में इसी शिक्षा की सबसे अधिक नाक़द्री है।

१८८२ ईसवी में स्पेन्सर ने अमेरिका का प्रवास किया। जहाँ-जहाँ वह प्रकट रूप से गया वहाँ-वहाँ उसका बड़ा आदर हुआ। राजकीय और नैतिक शास्त्रों के उत्कर्ष के लिए फ़्रान्स में एक प्रसिद्ध विद्या-पीठ है। उसकी एक शाखा तत्त्वज्ञान से सम्बन्ध रखती है। उसमें विख्यात विद्वान् यमरसन की जगह पर कुछ काल तक वह निबन्धकार रहा। परन्तु वह बड़ा ही निस्पृह और स्वाधीनचेता था। योरप, और अमेरिका के—विशेष करके इँगलेंड के—विश्वविद्यालयों ने उसे दर्शनशास्त्र की शिक्षा देने के लिए कितने ही ऊँचे-ऊँचे पद देने की इच्छा प्रकट की; परन्तु उसने कृतज्ञतापूर्वक उन्हें अस्वीकार कर दिया। स्वाधीन रहकर अपनी सारी उम्र उसने विद्या-व्यासङ्ग में ख़र्च कर दी और अपने अभूतपूर्व तत्त्वज्ञानपूर्ण ग्रन्थों से अपना नाम अमर करके संसार को अनन्त लाभ पहुँचाया।

स्पेन्सर की उम्र के पिछले पाँच-सात वर्ष अच्छे नहीं कटे। वह अकसर बीमार रहा करता था। कोई दस-

सत्रह वर्ष पहले से वह एकान्तवास करने लगा था। वह बहुत कम किसी से मिलता-जुलता था। अपने शारीरिक क्लेश सहन करता वह मृत्यु की राह देखने लगा था। अन्त में वह घड़ी आई और ८४ वर्ष की उम्र में, ८ दिसम्बर १९०३ को, वह इसे इस लोक से उठा ले गई। पर उसका अक्षय यश, [illegible], किम्बहुना उससे भी अधिक, प्रकाशित हो रहा है। उसे ले जाने या कम कर देने की किसी में शक्ति नहीं। स्पेन्सर ने लिख रक्खा था कि मरने पर मेरा मृत शरीर जलाया जाय, गाड़ा न जाय। ऐसा ही किया गया और उसका नश्वर पञ्च-भूतात्मक शरीर अग्नि के संस्कार से फिर पञ्चभूतों में जा मिला। शव-दाह की प्रथा जिन लोगों में नहीं है उन्हें स्पेन्सर के उदाहरण पर विचार करना चाहिए। इस देश के निवासियों में श्यामजी कृष्ण वर्म्मा पहले सज्जन हैं जिन्होंने आक्सफ़र्ड विश्वविद्यालय से एम० ए० की पदवी पाई है। स्पेन्सर की श्मशान-क्रिया के समय वे वहाँ उपस्थित थे। थोड़ा सा समयोचित भाषण करने के बाद उन्होंने १५ हज़ार रुपया खर्च करके स्पेन्सर के नाम से एक छात्रवृत्ति नियत करने का निश्चय किया। इस निश्चय का वे पालन भी कर रहे हैं। इँगलेंड के इस ब्रह्मर्षितुल्य वेदान्त वेत्ता का इस तरह भारतवर्ष के एक विद्वान् द्वारा आदर होना कुछ कौतूहलजनक अवश्य है। सच है, दर्शन-शास्त्र की महिमा यह बुड्ढा भारत अब भी ख़ूब जानता है।

स्पेन्सर शान्तिभाव को बहुत पसन्द करता था। वह युद्ध के खिलाफ़ था। बोअर-युद्ध का कारण उस समय के उपनिवेश-मन्त्री चेम्बरलेन साहब थे। उन पर, उनके इस अनुचित काम के कारण, स्पेन्सर ने अप्रसन्नता प्रकट की थी। उसके मरने के बाद उसकी जो एक चिट्ठी प्रकाशित हुई है उसमें उसने जापान को शिक्षा दी है कि यदि तुम अपना भला चाहते हो तो योरपवालों से दूर ही रहो और योरप की स्त्रियों से विवाह करके अपनी जातीयता को बरबाद न करो। नहीं तो तुम किसी दिन अपनी स्वाधीनता खो बैठोगे।

हर्बर्ट स्पेन्सर ने यद्यपि पाठशाला में शिक्षा नहीं पाई और यद्यपि वह संस्कृत की तरह की ग्रीक और लैटिन इत्यादि भाषाओं के खिलाफ़ था, यहाँ तक कि वह ग्रीक भाषा का एक शब्द तक नहीं जानता था, तथापि वह बहुत अच्छी अँगरेज़ी लिखता था और अपने मन का भाव बड़ी ही योग्यता से प्रकट कर सकता था। उसकी तर्क-शक्ति अद्वितीय थी। जिस विषय का उसने प्रतिपादन किया है, जिस विषय में उसने बहस की है, उसे सिद्ध करने में उसने कोई बात नहीं छोड़ी। उसकी प्रतिपादन-शक्ति ऐसी बढ़ी-चढ़ी थी कि जो लोग उसकी राय के खिलाफ़ थे उनको भी उसकी तर्कना सुनकर उसके सामने सिर झुकाना पड़ता था। पर, खेद की बात है, उसकी क़दर उसी के देश, इँगलैंड में, और देशों की अपेक्षा बहुत कम हुई। सच है, हीरे की क़दर हीरे की खान में कम होती है।

स्पेन्सर का मत है कि विज्ञान पढ़ने से मनुष्य अधार्मिक नहीं होता। विज्ञान से धर्मनिष्ठा अधिक बढ़ती है। जो लोग ऐसा नहीं समझते उन्होंने विज्ञान की महिमा को जाना ही नहीं। इस विषय पर उसने "शिक्षा" नाम की अपनी पुस्तक में बड़ी ही विज्ञता-पूर्ण बहस की है। उसने लिखा है कि ज़रा-ज़रा सी बातों पर वाद-विवाद करके व्यर्थ समय नष्ट करना और सृष्टि-रचना में परमेश्वर ने जो अगाध चातुर्य दिखलाया है उस पर ज़रा भी विचार न करना बड़े ही आश्चर्य की बात है। परन्तु पीछे उसका मन कुछ और ही तरह का हो गया था। जिस स्पेन्सर ने सृष्टि-सम्बन्धिनी एक "अगम्य, अमर्य्याद, और सर्वव्यापक शक्ति" की महिमा गाई उसी ने "विश्वकर्म्मा, जगन्नायक और सर्वशक्तिमान् ईश्वर" की अपने समाज-घटना-शास्त्र में कड़ी समालोचना की। यह शायद धर्म्मश्रद्धा में उसकी अशक्ति का कारण हो। क्योंकि धर्म-विषयक बातों में श्रद्धा ही प्रधान है।

स्पेन्सर ने पचास-साठ वर्ष तक अविश्रान्त ग्रन्थ-रचना की। उसके ग्रन्थों को पढ़कर संसार के सुशिक्षित लोगों के विचारों में ख़ूब फेर-फार हो रहे हैं। आशा है कि इस फेर-फार के कारण सांसारिक जनों का कल्याण होगा। स्पेन्सर का विद्याभ्यास दीर्घ, ज्ञान-भाण्डार अगाध और परिश्रम अप्रति-हत था। वह अत्यन्त कर्तव्यनिष्ठ, दृढ़-निश्चय और निर्लोभी था। उसके समान तत्त्वज्ञानी योरप में बहुत कम हुए हैं।

किसी-किसी का मत है कि तत्त्वज्ञानियों में अरिस्टाटल, बेकन और डारविन ही की उपमा उससे थोड़ा-बहुत दी जा सकती है। ईश्वर करे इस महादार्शनिक की पुस्तकों का अनुवाद इस देश की भाषाओं में हो जाय जिससे इस बूढ़े वेदान्ती भारतवर्ष के निवासियों को भी उसके सिद्धान्त समझने में सुभीता हो।

[जुलाई १९०६

२—कर्नल आलकट

पाठकों ने थियासफ़िकल सोसायटी का नाम सुना ही होगा। इसे स्थापित हुए कोई ३० वर्ष हुए। इसका प्रधान दफ़्तर मदरास (अडियार) में है। इस समाज के सिद्धान्त कुछ-कुछ अद्वैतवादियों के सिद्धान्तों से मिलते हैं। इसका मुख्य सिद्धान्त है—मनुष्य परमात्मा का अंश है, इसलिए वह परमात्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इस समाज में सब धर्मों और सब सम्प्रदायों के अनुयायी भरती हो सकते हैं। इसके अधिष्ठाताओं और कार्यकर्ताओं का कथन है कि हमें किसी धर्म से द्वेष नहीं, ईश्वर सबका एक है। हाँ, उसकी प्राप्ति के साधन जुदे-जुदे हैं। पर इससे मुख्य उद्देश में बाधा नहीं आ सकती। सब लोगों में भ्रातृ-भाव की स्थापना, ब्रह्मविद्या का प्रचार और पारस्परिक सहानुभूति की वृद्धि ही इस समाज के कर्तव्य हैं।

इसके संस्थापक कर्नल आलकट का शरीरपात हुए अभी थोड़े ही दिन हुए। मदरास में, १७ फ़रवरी १९०७ को, आपकी मृत्यु हुई। आपके मृत देह के पास सब धर्मों की प्रधान-प्रधान पुस्तकें रक्खी गई थीं। यह आपकी आज्ञा से हुआ था। आप कह गये थे, ऐसा ही करना। मरने पर सब धर्मों के अनुयायियों ने आपका कीर्तिगान किया। आपके

शव का अग्नि-संस्कार हुआ। अस्थि-सञ्चय का आधा भाग समुद्र में डाला गया; आधा काशी में, भागीरथी में, प्रवाहित किया गया। यह बात हिन्दू-धर्म्मानुकूल हुई।

तीन-चार वर्ष हुए हमने कर्नल आलकट के जीवनचरित की सामग्री इकट्ठी करने की कोशिश की थी। पर सफलता न हुई। जो लोग सामग्री दे सकते थे उन्होंने उत्तर दिया कि कर्नल साहब का जीवनचरित प्रकाशित नहीं हो सकता; साहब नहीं चाहते कि उनका चरित प्रकाशित हो। क्या करते? चुप रहना पड़ा; पर अब, उनकी मृत्यु के बाद, श्रीमती एनी बेसंट ने उनका संक्षिप्त चरित अँगरेज़ी अखबारों में छपा दिया है। उससे कर्नल साहब का कुछ हाल लोगों को मालूम हो गया है। ख़ैर, तब न सही, अब सही।

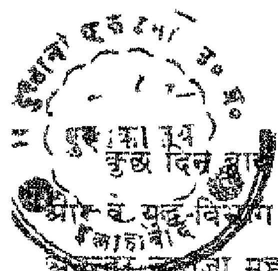
कर्नल साहब के पूर्वज अँगरेज़ थे। उन्हें अमेरिका में आकर बसे कई पुश्तें हो गईं। अतएव कर्नल आलकट को अमेरिकन कहना चाहिए। अमेरिका के न्यूजर्सी-प्रान्त के आरेंज नगर में कर्नल साहब का जन्म, १८३२ ईसवी में, हुआ था। आपको कृषि-विद्या से बड़ा शौक़ था। ग्रीस की गवर्नमेंट ने उन्हें कृषि के महकमे में एक अच्छा पद देने की इच्छा प्रकट की थी। पर उन्होंने एथन्स जाना मंज़ूर न किया। आपने अपने ही देश में कृषि-विद्या का एक स्कूल खोला। उसमें आपने बड़ी कार्य-दक्षता दिखलाई। आपका बड़ा नाम हुआ। आपने कृषि-विषयक एक किताब भी लिखी। थोड़े

ही समय में वह पास हो गये। आपकी योग्यता से प्रसन्न होकर अमेरिका के अधिकारियों ने वाशिंगटन में आपको कृषि-विभाग का डाइरेक्टर बनाना चाहा। पर इस पद के लेने से भी आपने इनकार कर दिया। और भी कई अच्छे-अच्छे काम आपको मिलते थे। पर उन्हें भी आपने नहीं मंजूर किया।

१८५८ में आप इंगलैंड गये। वहा आपने अपने कृषिज्ञान की और भी वृद्धि की। अमेरिका लौटकर दो किताबें और आपने कृषि पर लिखीं। इससे आपका और भी नाम हुआ।

कर्नल आलकट कुछ दिन तक एक अख़बार के सम्पादक भी रहे थे। अख़बारों में आपने कुछ दिन तक लेख भी लिखे थे।

जब अमेरिका के उत्तरी और दक्खिनी राज्यों में लड़ाई शुरू हुई तब आलकट साहब फ़ौज में भरती हो गये। लड़ाई में आपने बड़ी बहादुरी दिखाई और अपने काम से अफ़सरों को बहुत प्रसन्न किया। इसके बाद उन्हें एक ऐसे मामले की तहक़ीक़ात का काम दिया गया जिसमें गवर्नमेंट का बहुत सा रुपया लोग खा गये थे। इस काम में उन्हें लोग रिश्वत देने, और रिश्वत न लेने पर, धमकाने से भी बाज़ न आये। पर आलकट साहब इससे ज़रा भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने बड़ी ही योग्यता से काम किया। फल यह हुआ कि अपराधी दस-दस वर्ष के लिए जेल भेजे गये। इस काम से साहब ने बड़ी नेकनामी पाई। बड़े-बड़े अफ़सरों ने उनकी प्रशंसा की और बिना माँगे प्रशंसापूर्ण पत्र भेजे।



कुछ दिन बाद आलकट साहब को कर्नल का पद मिला और वे युद्ध-विभाग के स्पेशल कमिश्नर बनाये गये। इनकी [illegible] ख़ज़ाना महकमे के सर्वश्रेष्ठ अधिकारी ने अपने मह-कमे में उन्हें ले लिया। वहाँ उन्होंने अनेक सुधार किये और उस महकमे में जितनी ख़राबियाँ थीं सब दूर कर दीं। इनकी इस योग्यता पर इनका प्रधान अफ़सर इतना प्रसन्न हुआ कि उसने एक लम्बी सरटीफ़िकेट दी और उसमें इनके गुणों का सविस्तर गान किया।

मैडम ब्लैवस्की से कर्नल आलकट की भेंट अमेरिका ही में हुई। वहीं इन दोनों ने मिलकर थियासफ़िकल समाज की नींव डाली। उस समय कर्नल साहब ने गवर्नमेंट की नौकरी से इस्तेफ़ा दे दिया था और विकालत करने लगे थे। विकालत से आपको अच्छी आमदनी होती थी। पर धार्मिक और ब्रह्मविद्या-विषयक बातों को उन्होंने रुपया पैदा करने के काम से अधिक महत्त्वपूर्ण समझा। अतएव सांसारिक झगड़ों से हाथ खींचकर, १८७५ ईसवी में, पूर्वोक्त मैडम साहबा की सलाह से, आपने इस समाज की स्थापना की। आप ही इसके प्रधान अध्यक्ष नियत किये गये। इसके दो वर्ष बाद आपने भारतवर्ष के लिए प्रस्थान किया और यहाँ मदरास में थियासफ़िकल सोसायटी का मुख्य दफ़्तर खोला।

यहाँ आकर बम्बई में पहले पहल आप ही ने स्वदेशी चीज़ों की एक प्रदर्शिनी खोलने का उपक्रम किया और लोगों को

[illegible]-सम्प्रदाय को बात जगत की। ऐसी [illegible] कहती हैं, कांग्रेस करने का ख्याल भी पहले पहल आप ही को हुआ था।

कर्नल साहब को बौद्ध धर्म से विशेष प्रेम था। आपने लङ्का में इस धर्म की उन्नति के लिए बहुत प्रयत्न किया। यह आप ही के प्रयत्न का फल है जो वहाँ इस समय ३ कालेज और २०३ स्कूल हैं और उनमें २४,८४३ विद्यार्थी पढ़ते हैं। जापान में भी कर्नल आल्काट ने बौद्ध धर्म की बड़ी उन्नति की। अनेक व्याख्यान आपने दिये; बौद्ध धर्म के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों को आपने अपने व्याख्यानों के प्रभाव से एक कर दिया।

१८७८ ईसवी में कर्नल साहब भारतवर्ष में आये और १८८२ में आपने अपने निज के रुपये से [illegible] मदरास में थियासफ़िकल सोसायटी का [illegible] बनवाया। यहाँ, १८९१ में, मैडम ब्लैवस्की का शरीरपात हुआ। तब से इस सोसायटी का कार्य-सूत्र सर्वतोभाव से आप ही के हाथ रहा। आपने अपने उद्योग और अध्यवसाय से, ३१ वर्षों में, इस सोसायटी की कोई एक हज़ार शाखायें दुनिया भर में खोल दीं। इस समय कोई देश ऐसा नहीं जहाँ इस सोसा-यटी की शाखा न हो। आप पर और मैडम ब्लैवस्की पर अनेक लोगों ने अनेक प्रकार की तुहमतें लगाईं; अनेक प्रकार से उनकी निन्दा की; अनेक अनुचित आक्षेप और आघात किये; पर उनकी बहुत कम परवा करके आप अपने सिद्धान्तों पर दृढ़ रहे और जिस काम को शुरू किया था उसे उसी

उन्माद से करते रहे। फल यह हुआ कि आपके कितने ही विपक्षी इस समय आपकी बातों को मानने लगे हैं। सुनते हैं आपके सारे बड़े-बड़े काम महात्माओं की प्रेरणा से हुआ करते थे। ऐसी ही प्रेरणा के वशीभूत होकर आप एनी बेसेंट को अपने पद का उत्तराधिकारी बनाने की सिफ़ारिश कर गये हैं।

कर्नल आलकट की बदौलत थियासफ़िकल सोसायटी से, एक बात जो सबसे अधिक महत्त्व की हुई है, वह यह है कि इस देश के अँगरेज़ी पढ़े विद्वानों के हृदय में अपने देश की विद्या और शास्त्रादि पर श्रद्धा का अंकुर जम गया है। यह कुछ कम लाभ नहीं।

[अप्रेल १९०७

४—डाक्टर जी० थीबो, पी-एच्० डी०, सी० आई० ई०

डाक्टर थीबो का नाम अनेक पाठकों ने सुना होगा। प्रयाग के प्रसिद्ध म्योर-कालेज के आप प्रधान अध्यापक थे। २४ अप्रैल १९०६ से आपने पेनशन ले ली। ५५ वर्ष की उम्र हो जाने से अपने मुलाज़िमों को गवर्नमेंट ज़बरदस्ती पेनशन दे देती है। इसी नियम का बर्ताव थीबो साहब के भी साथ हुआ। यदि गवर्नमेंट उन्हें पेनशन न देती तो वे अभी बहुत समय तक म्योर-कालेज की अध्यापना कर सकते। क्योंकि वे अभी तक ख़ूब हृष्ट-पुष्ट और नीरोग हैं और उनकी मानसिक शक्तियों में किसी प्रकार का अपचाय नहीं आया।

डाक्टर थीबो की जन्म-भूमि जर्मनी है। पहले इस देश में कीलहार्न, बूलर, हार्नली, रोअर आदि कितने ही जर्मन विद्वान् शिक्षा-विभाग में थे। ये सब विद्वान् संस्कृतज्ञ थे। इसलिए उन्होंने संस्कृत-भाषा की ख़ूब सेवा की, नई-नई पुस्तकें लिखीं और नई-नई बातों का पता लगाया। पर धीरे-धीरे वे सब जहाँ के तहाँ हो गये। थीबो साहब अन्तिम जर्मन हैं। सो उन्हें भी पेनशन हो गई। अब अँगरेज़ों को भी संस्कृत का शौक़ हुआ है। इसलिए गवर्नमेंट जर्मन विद्वानों

को हिन्दुस्तान भेजने की कोई ज़रूरत नहीं समझती। अब तो, सुनते हैं, कालेजों में अँगरेज़ ही संस्कृत पढ़ावेंगे। हिन्दुस्तानियों से सिर्फ़ छोटा-मोटा काम लिया जायगा। संस्कृत पढ़ाने का काम तो शायद एक न एक दिन अँगरेज़-पण्डितों के हाथ में चला ही जायगा। पर अध्यापकों के साथ-साथ यदि पुरोहिती के काम को भी चार्ज यही लोग ले लें तो बड़ा दिल्लगी हो।

डाक्टर थीबो के पूर्वज प्रसिद्ध पुरुष थे। वे अच्छे-अच्छे उहदों पर थे। विद्वत्ता भी उनमें कम न थी। उनके प्रायः सभी गुणों ने थीबो साहब का आश्रय लिया है। संस्कृत का शौक़ आपको लड़कपन ही से है। हीडलबर्ग और बर्लिन के विश्वविद्यालयों में अध्ययन करके थीबो साहब लन्दन गये। वहाँ तीन-चार वर्ष वे मेक्समूलर साहब के साथ रहे। उनकी सङ्गति से थीबो साहब की संस्कृत-विद्या ख़ूब विशद हो गई। १८७५ ईसवी में अँगरेज़ी सरकार ने उन्हें अँगरेज़ी और संस्कृत पढ़ाने के लिए अध्यापक नियत किया। वे बनारस-कालेज को भेजे गये। उनके पहले इस पद पर बड़े-बड़े विद्वान रह चुके थे। पर तनख़्वाह कम होने के कारण कोई इस जगह पर बहुत दिन तक नहीं ठहरा।

डाक्टर थीबो का नाम पहले पहल शुल्व-सूत्रों पर एक लेख लिखने के कारण हुआ। इस लेख में डाक्टर साहब ने दिखलाया कि वैदिक समय में ज्यामिति-शास्त्र का थोड़ा-बहुत

ज्ञान इस देश के पण्डितों को दुर्लभ था। क्योंकि आज जो वेदी और यज्ञकुण्ड आदि बनाने के जो नियम वैदिक साहित्य में पाये जाते हैं वे इसी शास्त्र के अनुसार हैं। डाक्टर थीबो को गणित-शास्त्र से भी प्रेम है। उन्होंने ज्योतिष पर जो निबन्ध लिखे हैं उनसे इस बात का प्रमाण मिलता है। जब वे काशी से प्रयाग बदल आये और म्योर-कालेज में अँगरेज़ी भाषा तथा दर्शन-शास्त्र के अध्यापक नियत हुए तब उन्होंने अपने गणित-शास्त्र के ज्ञान की ओर भी ध्यान दिया। अवकाश पाने पर वे गणित-शास्त्र का अभ्यास करते थे और यदि कोई बात समझ में न आती थी तो गणित-शास्त्र के अध्यापक बाबू रामनाथ बैनर्जी से पूछ लेते थे। अपनी जाति या अपने पद का उन्हें ज़रा भी घमण्ड न था और न अब है। अपने से कम महत्त्व के पदवाले हिन्दुस्तानियों से कोई बात पूछने में उन्हें कभी पसोपेश नहीं हुआ।

अँगरेज़ी और संस्कृत पढ़ाने के लिए बनारस-कालेज में जो अध्यापकी का पद था वह १८७७ ईसवी में तोड़ दिया गया। इस पद पर थीबो साहब सिर्फ दो वर्ष रहे। इसके बाद कुछ दिनों तक उन्होंने स्कूलों के इन्स्पेक्टर का काम किया। परन्तु शीघ्र ही वे बनारस-कालेज के अध्यक्ष, अर्थात् प्रिन्सिपल, कर दिये गये। १८८८ ईसवी तक आप इस पद पर रहे। संस्कृत की प्रथमा, मध्यमा और आचार्य-परीक्षायें उन्हों ने निकालीं। कुछ दिनों के लिए वे पञ्जाब

के रजिस्टरार हो गये। पर फिर इसी प्रान्त को लौट आये और प्रयाग के म्योर-कालेज में अध्यापक हुए। तब से अन्त तक वे इसी कालेज में रहे। गफ़ साहब के पेनशन लेने पर से म्योर-कालेज के अध्यक्ष हो गये।

थीबो साहब छोटे-छोटे कालेजों के ख़िलाफ़ हैं और थोड़ी उम्र में बड़ी-बड़ी परीक्षाओं को पास कर लेना भी आपको पसन्द नहीं। आपकी राय है कि अच्छे-अच्छे कालेजों में उपयुक्त उम्र के लड़कों को रखने ही से लाभ है। कच्ची उम्र में विद्या कच्ची रह जाती है और छोटे-छोटे कालेजों में पढ़ाई अच्छी नहीं होती।

अब आपको इलाहाबाद-विश्वविद्यालय के रजिस्टरार का पद मिला है। टेक्स्ट बुक कमिटी के मेम्बर भी आप पूर्ववत् बने रहेंगे। इस कमिटी में शामिल रहकर थीबो साहब ने बहुत कुछ काम किया है। संस्कृत और हिन्दी की पुस्तकों के चुनाव में तो आपने जो काम किया है वह बहुत ही प्रशंसनीय है। हिन्दी के प्रेमी शायद यह न जानते होंगे कि थीबो साहब शुद्ध और परिमार्जित हिन्दी के कितने पक्षपाती हैं और जो लोग अफ़सरों की हाँ में हाँ मिलाकर हिन्दी को उर्दू बनाने की सिफ़ारिश करते हैं उनकी राय का उन्होंने कितना विरोध किया है। अभी बहुत दिन नहीं हुए, गवर्नमेंट ने हिन्दी-उर्दू की रीडरों के लिए इनाम की नोटिस दी थी। रीडरें जब बनकर तैयार हुई और एक विशेष कमिटी

से पेश की गई तब थीबो साहब एक बहुत ही निर्भीक और प्रभावशाली पुस्तक-प्रकाशक की रिपोर्ट के खिलाफ़ राय देने से ज़रा भी न हिचके, कारण यह था कि उसमें अनुचित बातें थीं। आपकी न्यायशीलता का यह उत्तम उदाहरण है।

डाक्टर थीबो ने पञ्चसिद्धान्तिका और शङ्कर तथा रामानुज-भाष्य-युत वेदान्तसूत्रों का, निज सम्पादित, बहुत उत्तम संस्करण प्रकाशित किया है। वराहमिहिर पर आपने टिप्पणियाँ लिखी हैं और मीमांसा तथा ज्योतिष-वेदाङ्ग पर कितने ही निबन्ध लिखे हैं। अपनी मातृभाषा जर्मन में भी आपने बहुत से लेख लिखे हैं। जर्मन होकर भी आप अच्छी अँगरेज़ी लिखते और बोलते हैं।

आपकी योग्यता से प्रसन्न होकर गवर्नमेंट ने आपको सी० आई० ई० की पदवी से विभूषित किया है *

[जूलाई १९०६

* "स्टूडेन्ट-वर्ल्ड" से सङ्कलित

५—मुग्धानलाचार्य्य

मुग्धानलाचार्य्य से मतलब डाक्टर मेकडॉनल से है। आप आक्सफ़र्ड में संस्कृत के प्रधान अध्यापक हैं। आपके विषय में एक लेख, मार्च १९०७ की "सरस्वती" में प्रकाशित हो चुका है। उसमें आपकी संस्कृत-लिपि का फ़ोटो दिया गया है। जून १९०७ की "सरस्वती" में "कालिदास का समय" नामक जो लेख प्रकाशित हुआ है उसमें भी आपका उल्लेख है और आपकी रचित "संस्कृत-भाषा का इतिहास" नामक पुस्तक की दो एक बातों की आलोचना भी है। कुछ समय हुआ, आप संस्कृत की जन्मभूमि भारत में भ्रमण करने आये थे। आप यहाँ कई महीने घूमे। अब आप अपने देश लौट गये हैं।

आपका पूरा नाम है आर्थर ए०, मेकडॉनल। मेकडॉनल का संस्कृत-रूप आप ही ने "मुग्धानल" बनाया है और उसके आगे "आचार्य्य" भी आप ही ने जोड़ा है। आप एम० ए० (मास्टर आव् आर्ट्स) हैं; इससे "आर्ट्स" के आचार्य्य हुए। और पी-एच० डी० (डाक्टर आव् फ़िलासफ़ी) हैं; इससे फ़िलासफ़ी (दर्शन-शास्त्र) के भी आचार्य्य हुए।

डाक्टर मेकडॉनल का जन्म मुज़फ़्फ़रपुर (तिरहुत) में हुआ था। वहाँ ११ मई १८५४ को आपने जन्म लिया था।

पर शिक्षा और [illegible] उनको प्राप्त नहीं हुई । जर्मनी के गाटिंजन और इंगलैंड के आक्सफर्ड-विश्वविद्यालयों में आपने ऊँचे दर्जे की शिक्षा प्राप्त की है । पुरानी जर्मन-भाषा, संस्कृत-भाषा, और भाषा-व्युत्पत्ति-शास्त्र के अध्ययन और विचार में आपने सविशेष परिश्रम किया है । प्रधान प्रधान शास्त्र-ग्रन्थों में एक परीक्षा आक्सफर्ड में होती है । उसकी भी एक सर्वोच्च शाखा है । उसका नाम है "आनर्स-कोर्स" । जो लोग उसमें पास होते हैं वे विशेष सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं । इस परीक्षा को पास करके आचार्य्य मुग्धानल ने चीनी, जर्मन और संस्कृत-भाषा सम्बन्धी विश्वविद्यालय की छात्रवृत्तियाँ प्राप्त कीं । संस्कृत के अगाध पण्डित सर मानियर विलियम्स का नाम पाठकों ने सुना ही होगा । उन्हीं से आपने चार वर्षों तक बराबर संस्कृत पढ़ी है । जैसे आप संस्कृत के धुरन्धर पण्डित हैं वैसे ही जर्मन के भी हैं । १८८० से १८९९ तक, कोई २० वर्ष, आप आक्सफर्ड में जर्मन-भाषा के अध्यापक थे । इस भाषा के अध्यापक नियत होने के ८ वर्ष बाद से संस्कृत-अध्यापना का भी काम आपको मिला । १८८८ से १८९९ तक आप संस्कृत के सहकारी अध्यापक भी रहे । इसके आगे आप संस्कृत के "बाडन-प्रोफेसर" हुए । बाडन नाम के एक साहब बहुत सा रुपया जमा करके आक्सफर्ड में संस्कृत पढ़ाने का प्रबन्ध कर गये हैं । इससे जो कोई उनकी नियत की हुई जगह पर काम करता है वह "बाडन-

ब्रह्मेश्वर" कहलाता है। आचार्य्य सुखानन्द इसी पद पर अधिष्ठित हैं।

सुखानलाचार्य्य वेदों के बहुत बड़े ज्ञाता हैं। वैदिक साहित्य की नस-नस से आप वाक़िफ़ हैं। वेनफ़ी, रोट और मोक्समूलर से आपने वेद पढ़े हैं। पश्चिमी दुनिया में इस त्रिमूर्ति को वेदज्ञ-शिरोमणि कहना चाहिए। इसी से आचार्य्य सुखानन्द वेद-विद्या में इतने निष्णात हैं। इसके सिवा काव्य, कोश, व्याकरण आदि विषयों में भी आपकी अच्छी गति है; पर विशेष करके आप वेदों ही के अध्ययन और वेदों ही के तत्त्वार्थ-प्रकाशन में लीन रहते हैं। आपने एक संस्कृत-कोश भी प्रकाशित किया है; एक संस्कृत-व्याकरण भी लिखा है। कितने संस्कृत-ग्रन्थों का आपने सम्पादन किया है, इसकी तो गिनती ही नहीं। हम उनके नाम देने में असमर्थ हैं। हमें सबके नाम ही नहीं मालूम, दें कैसे।

डाक्टर मेकडॉनल ने एक बहुत महत्त्व-पूर्ण पुस्तक लिखी है। उसमें आपने वैदिक देवताओं का वर्णन बड़ी ही योग्यता से किया है। वेदों में जो कितनी ही कथायें और अन्योक्तियाँ हैं उन सबका डाक्टर साहब ने उसमें विचार किया है। उसके लिखने में आपने बड़ा पाण्डित्य दिखाया है; बड़ा परिश्रम किया है। पण्डित शिवशङ्कर शर्म्मा जी ने "त्रिदेव-निर्णय" नाम की एक पुस्तक लिखी है। उसकी समालोचना सरस्वती में निकल चुकी है। पण्डितजी को चाहिए कि आचार्य्य

मुग्धानल को यह पुस्तक अवश्य पढ़ें। आचार्य ने एक और भी प्रगाढ़-पाण्डित्य-पूर्ण ग्रन्थ लिखा है। वह बहुत बड़ा है, अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ। यह ग्रन्थ वैदिक व्याकरण है। कई वर्षों के सतत परिश्रम से आपने इसे लिख पाया है। प्रकाशित होने पर, सुनते हैं, यह ग्रन्थ अपने ढंग का एक ही होगा। आपका लौकिक व्याकरण प्रकाशित हुए बहुत दिन हुए; अब वैदिक व्याकरण भी प्रकाशित होने जाता है। दोनों व्याकरणों से आप अद्भुत ज्ञाता मालूम होते हैं।

पर आचार्य मुग्धानल का, संसार को चकित करनेवाला, कार्य अभी होने को है। जिन दो ग्रन्थों का नाम ऊपर उल्लेख किया है उन्हें इस "महतो महीयान्" कार्य की भूमिका मात्र समझिए। आप ऋग्वेद का एक सर्वसुन्दर अनुवाद अँगरेज़ी भाषा में लिखकर प्रकाशित करना चाहते हैं। यह अनुवाद आपका "Complete" (पूर्ण) होगा और "Scientific" (शास्त्रसम्मत अथवा विज्ञानसिद्ध) भी होगा। इसके लिए आप अभी से तैयारियाँ कर रहे हैं। शीघ्र ही आप इसका आरम्भ करनेवाले हैं। विदेशी विद्वानों की राय है कि ऐसा अनुवाद कहीं अब तक प्रकाशित नहीं हुआ। "Sacred Books of the East" (पौर्वात्य पवित्र-पुस्तक-माला) में जो अनुवाद निकला है वह इसका दशांशमात्र है।

आचार्य महाशय की महत्त्वाकांक्षा यहीं तक न समझिए। आप ऋग्वेद का अनुवाद करके एक और बृहद् ग्रन्थ लिखने

का इरादा रखते हैं। आप जो इस देश में विचरने आये थे उसके कई मतलब थे। एक मतलब आपका था—एक बहुत बड़े कोश के लिए सामग्री एकत्र करना। इसमें भारतवर्ष की पौराणिक और धार्मिक बातों का भाण्डार रहेगा। प्रत्येक बात का—प्रत्येक कथा का—प्रत्येक धार्मिक विचार का—ऐतिहासिक रीति से विचार किया जायगा। इसमें जगह-जगह पर चित्र भी रहेंगे। सारा कोश सचित्र निकलेगा।

आक्टोबर १६०७ में आचार्य्य ने भारतभूमि में पदार्पण किया था। आप कोई ६ महीने इस देश में घूमे। आपने इस देश के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध प्राचीन स्थानों में भ्रमण किया। हिन्दू-धर्म्म क्या चीज़ है, इसको ध्यान से देखा। आपकी इच्छा हस्तलिखित पुरानी संस्कृत-पुस्तकें प्राप्त करने की भी थी। शायद बहुत सी पुस्तकें आप कोड़ी-मोल विलायत ले भी गये हों। एक अखबार में हमने पढ़ा था कि यहाँ के "Native" (एतद्देशीय) संस्कृत-विद्वानों से मिलकर संस्कृत-विद्या की उन्नति के विषय में कुछ सूचनायें भी करने का आप इरादा रखते थे। भारतवर्ष में जितने अच्छे-अच्छे संस्कृत-पुस्तकालय हैं, जितने अच्छे-अच्छे प्राचीन-वस्तु-संग्रहालय हैं, जितने अच्छे-अच्छे कालेज हैं सब देख-भालकर तब आप स्वदेश को लौटे हैं।

डाक्टर मेकडोनल विदेशी होकर भी संस्कृत से इतना प्रेम रखते हैं; सात समुद्र पार करके आप यहाँ आये। बहुत

श्रम और बहुत खर्च आपने उठाया। यह सब किया आपने इसलिए कि वैदिक संस्कृत-साहित्य-सम्बन्धी अच्छे-अच्छे ग्रन्थ आप लिख सकें। आपका यह अनुराग सर्वथा श्लाघनीय और अभिनन्दनीय है। यहाँ के "नेटिव" विद्वानों के "मन-मुकुर" का मालिन्य न मालूम कब दूर होगा। न मालूम कब वे सोत्साह संस्कृताध्ययन में लगेंगे; कब वे अनुसन्धान-पूर्वक नई-नई बातें जानने का यत्न करेंगे; कब अच्छी-अच्छी पुस्तकें लिखने अथवा पुरानी पुस्तकों का पुनरुद्धार करने के लिए अग्रेसर होंगे। स्वामी-नारायण-सम्प्रदाय-सम्बन्धी व्यवस्था देने, अथवा एकादशी आज है या कल, इस पर विवाद करने बैठने आदि कामों से इन बेचारों को अवकाश कहाँ?

आचार्यवर मुग्धानल इस देश के विद्वानों से मिलने की इच्छा से भी भारत-भ्रमण करने आये थे। आपके इस सद्भाव और सदुद्देश की हम प्रशंसा करते हैं। नहीं कह सकते आपने इस देश के किन-किन विद्वानों से वार्तालाप किया, किस-किस विषय में वार्तालाप किया और उन्हें कैसा पाया। आप तो यहाँ के संस्कृतज्ञों को कोई चीज़ ही नहीं समझते। फिर उनसे मिलकर आप क्या फ़ायदा उठा सकते हैं?

डाक्टर मेकडॉनल संस्कृत-शिक्षा के बड़े पक्षपाती हैं। आपकी राय है कि जो लोग "सिविल सर्विस" की परीक्षा पास करके इस देश में अफ़सरी करने आते हैं वे यदि विलायत ही से संस्कृत पढ़कर आवें तो अँगरेज़ी राज्य की जड़ पाताल

चली जाय और भारत की प्रजा की सुख-समृद्धि भी बहुत बढ़ जाय। भारतवर्ष के नालायक पण्डितों से संस्कृत पढ़ने से विशेष लाभ की सम्भावना नहीं। क्योंकि ये लोग गुण-दोष-परीक्षापूर्वक संस्कृत पढ़ाना नहीं जानते। ये लोग सूक्ष्म-दर्शी नहीं। इससे "सिविल सर्विस" वालों को आचार्य महोदय ही से संस्कृत पढ़कर यहाँ आना चाहिए। यह सूचना आपने अपने छात्रों की संख्या बढ़ाने के लिए नहीं किन्तु भारतवर्ष और इंगलेंड दोनों के लाभ के लिए ही है। डाक्टर मेकडॉनल ने ऐसी ही अनेक निरर्गल बातों से भरा हुआ एक लम्बा लेख लन्दन की रायल एशियाटिक सोसायटी के जुलाई १९०६ ईसवी के जर्नल में प्रकाशित कराया है। आपकी ये सब मधुर, मनोहर बातें यहाँ के कुछ लोगों को मीठी नहीं लगीं। बम्बई के एलिफन्स्टन कालेज में पण्डित श्रीधर राम-कृष्ण भाण्डारकर, एम० ए०, संस्कृताध्यापक हैं। उन्होंने आचार्य महोदय के लेख का खण्डन लिखा। आपके प्रायः प्रत्येक आक्षेप की असारता उन्होंने दिखलाई। जवाब बहुत ही माकूल हुआ। उसे उन्होंने बम्बई की एशियाटिक सोसा-यटी के जर्नल में छपने के लिए भेजा। परन्तु सोसायटी के मन्त्री महाशय ने उसे प्रकाशित करने से इनकार किया। आपकी राय हुई कि इस उत्तर में विवादांश अधिक है; इससे सोसायटी के जर्नल में नहीं छप सकता। अच्छा फैसला हुआ। आचार्य जो कुछ कहें कह सकते हैं; जो कुछ छपावें

छपा सकते हैं। और लोग उनको अपनी किस कानून की रू से करने का हक रखते हैं? खैर, लाचार होकर, अँगरेजों ने अपना उत्तर पुस्तकाकार छपाया और उसका विपुल वितरण किया।

आचार्य्य की आज्ञा है कि जो लोग विलायत में संस्कृत पढ़कर आवेंगे वे हमारे धर्मशास्त्र की पुस्तकें खुद ही पढ़कर न्याय खूब कर सकेंगे। गुण-दोष-विवेचना-शक्ति-हीन पुराने ढंग के पण्डितों से पढ़ने से जो बातें उन्हें न सूझेंगी वे विलायत से पढ़कर आने पर आप ही आप सूझ जायेंगी। हम कहते हैं कि जो विद्वान् एक सतर तक भी संस्कृत नहीं लिख सकते और जो इस देश में कुछ रहने तो संस्कृत बोलना भूल जाते हैं उनके छात्र मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियाँ क्या समझेंगे, खाक! पहले उनके गुरु तो अच्छी तरह समझ लें! ये योरप के संस्कृत-विद्वान् वैदिक साहित्य में चाहे भले ही भारतवासियों से बढ़ जायँ, क्योंकि वेदाध्ययन के लिए वहाँ विशेष सुभीता है, परन्तु और बातों में यहाँ वालों से अधिक विज्ञता प्राप्त करने की आशा रखना व्यर्थ है। यहाँ किसी कालेज के अँगरेजी भाषा के प्रोफ़ेसर को यदि एक लाइन भी अँगरेजी लिखना न आवे, या वह अपने मन का भाव अपने अँगरेज-अफ़सर के सामने अँगरेजी में न प्रकट कर सके, तो वह उसी दिन निकाला जाय। पर गाटिंजन और आक्सफ़र्ड के संस्कृताचार्य्य यदि एक वाक्य भी संस्कृत में शुद्ध न लिख सकें तो भी कुछ हानि नहीं; तो भी वे

भारत के पण्डितों को नालायक ठहराने के लायक समझे जायें; तो भी वे संस्कृत के बड़े-बड़े छः-छः रुपये कीमत के व्याकरण लिख डालें !

आचार्य्य मुग्धानल के गुरुवर सर मानियर विलियम्स द्वारा सम्पादित, कालिदास के शकुन्तला नाटक की एक आवृत्ति है। उसमें—"किमत्र चित्रं यदि विशाखे शशाङ्कलेखामनुवर्तेते" इस पंक्ति का अर्थ गुरुवर ने किया है—"यदि चन्द्रमा के साथ संयोग होने के लिए विशाखा इतनी उत्सुक है तो शकुन्तला का चन्द्रवंशी दुष्यन्त के साथ संयोग की कामना करना कोई आश्चर्य्य की बात नहीं। शायद दुष्यन्त ने अपनी तुलना चन्द्रमा से और शकुन्तला की विशाखा से की है।"

तो क्या कालिदास ऐसे अहमक़ थे कि दुष्यन्त को चन्द्रमा बनाने के लिए, पुल्लिङ्ग "शशाङ्क" शब्द को स्त्रीलिङ्ग "शशाङ्क-लेखा" करना पड़ा? और क्या अकेली एक शकुन्तला को विशाखा बनाने के लिए "विशाखा" शब्द को द्वि-वचन में रखना पड़ा? साहब ने कालिदास का काव्य पढ़ डाला और अपने सैकड़ों छात्रों को पढ़ा भी डाला; पर आपके ध्यान में यह न आया कि उपमा और उत्प्रेक्षा आदि अलङ्कारों में कालिदास ने लिङ्ग और वचन की एकता का बड़ा ख़याल रक्खा है। हाय हाय! कालिदास ने कोई बड़ा ही गुरुतर पाप किसी जन्म में किया था; उसी का प्रायश्चित्त गुरुवर मानियर विलियम्स द्वारा आक्सफ़र्ड में उनसे कराया

गया है [illegible] में [illegible] है। [illegible] को त्रि-वल्क में लपेटकर शकुन्तला की दोनों सखियों को कवि ने दिखाया बताया है। यहीं [illegible] का उससे सम्बन्ध शकुन्तला से है। प्रियंवदा और अनसूया नामक उसकी दोनों सखियों के द्वारा शकुन्तला को [illegible] करने की बात कवि ने दुष्यन्त के मुँह से पूर्वोक्त वाक्य में कही है, सो उसके समझाने में, देखिए, विलसन साहब ने कैसा अर्थ का अनर्थ कर डाला। ऐसे ही आचार्यों के प्रकार साहब पण्डित इस देश में आकर धर्मशास्त्र के कठिन विषय बिना पण्डितों की मदद के आप ही और न्यायाधीश के आसन पर बैठकर दूध की तरह साफ़ स्वच्छ न्याय करें!

सच तो यह है कि इन साहब पण्डितों ने जो किसी-किसी विषय में विशेष पारदर्शिता दिखलाई है उसका कारण वही गुणदोष-विवेचना-ज्ञान-हीन पण्डित हैं जिन्हें [illegible]-नलाचार्य इतनी तुच्छ दृष्टि से देखते हैं। बूलर, कीलहार्न, पीटर्सन, आदि ने जो बड़ी-बड़ी किताबें लिख डालीं सो इस देश के भोले-भाले स्वल्पदर्शी पण्डितों ही की कृपा की बदौलत। यदि वे यहाँ वर्षों इन पण्डितों से सबक न सीखते तो वेदों के विषय में चाहे भले ही मनमानी कल्पनायें किया करते, पर और विषयों में क़लम उठाने का साहस शायद ही उन्हें होता। फिर भी, पण्डितों से सीखा लेकर भी, इन लोगों ने कोई-कोई बड़ी ही हास्यास्पद भूलें की हैं। बूलर साहब ने

'विक्रमाङ्कदेवचरित' का सम्पादन किया है। उस काव्य के १८ वें सर्ग में कवि बिल्हण ने अपना चरित लिखा है। उसमें एक जगह बिल्हण ने कहा है—

> भोजः क्ष्माभृत् स खलु न खलैस्तस्य साम्यं नरेन्द्रै-
>
> स्तत्प्रत्यक्षं किमिति भवता नागतं हा हतास्मि।
>
> यस्य द्वारोड्डमरशिखरक्रोडपारावतानां
>
> नादव्याजादिति सकरुणं व्याजहारेव धारा॥

इसका तात्पर्य यह है कि धारा नगरी मानों अफ़सोस के साथ बिल्हण से कहती है कि तू भोज के जीते जी क्यों न आया? परन्तु बूलर साहब ने—"तत्प्रत्यक्षं किमिति भवता नागतं हा हतास्मि" का अर्थ लगाया कि—तू धारानगरी में जाकर भोज से क्यों न मिला? बूलर साहब ख़ुद तो गढ़े में गिरे ही; पर अकेले नहीं गिरे; साथ हमें भी लेते गये। "विक्रमाङ्कदेव-चरित-चर्चा" लिखने के पहले हमने इस काव्य को अच्छी तरह पढ़ा। जहाँ यह धारा-नगरी-विषयक श्लोक मिला वहाँ हाशिये पर हमने लिख दिया—"धारा को गया"। पर जब पुस्तक लिखने बैठे तब वह बात ध्यान से उतर गई। बूलर साहब की भूमिका के आधार पर हमने लिख दिया कि भोज से मिलने के लिए बिल्हण धारा नगरी को गया ही नहीं। यह भूल हमें मालूम कब हुई जब पण्डित पद्मसिंहजी ने हमारी पुस्तक के हाशिये पर हमारा नोट देखा और हमें उसकी सूचना दी।

सुनाकर भारतवर्ष के आमूलों परिवर्तन हो को
ठहराते। आपकी राय है कि यहां के स्कूलों
के संस्कृत अध्यापक भी योग्यता में न्यून हैं।
-पत्र अच्छे बनाने आते हैं और न उन्हें पाठ्य-
मने का शऊर है। आपका ख्याल है कि यहां
ग के डाइरेक्टर संस्कृत नहीं जानते। अतः वे
नहीं चुनी जातीं। आचार्य समझते हैं कि
साहब संस्कृत जानते तो अच्छी पुस्तकें चुन
। यह खबर नहीं कि पाठ्यपुस्तकें चुनने का
सीनेट" के प्रबन्ध से होता है, या विश्वविद्यालय
हुए "बोर्डस् आफ् स्टडीज़" के प्रबन्ध से या
की सिफारिश से। उसमें संस्कृत के बड़े-बड़े
। बेचारे "नेटिव" अध्यापकों पर तो इसका
। किन्तु आचार्य के समकक्ष गौराङ्ग-गुरु
इविड्, फ़लनर और फ़िलिप्स आदि भी यहीं
। मूलर, फ्रेरर, कीलहार्न और पीटर्सन थे तब वे
-निर्वाचन करने की कृपा किया करते थे। यहीं
तने ही गौराङ्ग विद्वान् परीक्षक भी नियत होते
पाठ्यपुस्तकों और संस्कृत के पर्चों से यदि
ापकों की अयोग्यता झलकती है तो विलायत-
ों नहीं? इसलिए नहीं, क्योंकि वे आचार्य
। भूमिखण्ड के वासी हैं।

आचार्य मुग्धानल शायद चाहते हैं कि "नेटिव" संस्कृताध्यापक एकदम ही कालेजों से निकाल बाहर किये जायँ। उनके निकल जाने से पुस्तकें भी अच्छी चुनी जाने लगेंगी और परीक्षा-पत्र भी अच्छे बनने लगेंगे। एक बात और भी होगी। यह जो बी० ए०, एम० ए० वालों को काव्यप्रकाश, वेदान्त-सूत्रभाष्य और न्याय पढ़ाना पड़ता है सो भी पढ़ाना बन्द हो जायगा। योरप के दिग्गज पण्डितों को ये विषय पढ़ाना मानो लोहे के चने चाबना है। कई बार इन लोगों ने कोशिश करके इनका अध्यापन बन्द कराना चाहा; पर कामयाबी न हुई। सो यह बात उन्हें अब तक खटक रही होगी। साहब आचार्यों की राय है कि ये विषय संस्कृत के साधारण साहित्य के बाहर हैं। क्यों न हो! पर विलायत के विद्यालयों में जो ग्रीक भाषा पढ़ाई जाती है, अरिस्टाटल और प्लेटो के दार्शनिक ग्रन्थ उसके साहित्य के ठीक भीतर हैं। क्यों? इस लिए कि उन्हें साहब लोग पढ़ा सकते हैं; पर गौतम, शङ्कराचार्य और मम्मट के ग्रन्थों को नहीं पढ़ा सकते।

डाक्टर मेकडानल का सबसे बड़ा आक्षेप इस देश के संस्कृतज्ञों पर यह है कि वे वैज्ञानिक किंवा शास्त्रीय रीति (Scientific method) से व्याकरण और पुरातत्वादि विषय पढ़ना-पढ़ाना नहीं जानते। अतएव जिन्हें इन विषयों का अध्ययन करना हो उन्हें विलायत ही से संस्कृत पढ़कर इस देश में आना चाहिए। बहुत दुरुस्त! "यथाज्ञापयति देवः!"

डाक्टर भाऊदाजी, डाक्टर भाण्डारकर, डाक्टर भगवानलाल इन्द्रजी, डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र, पण्डित श्यामजी शास्त्री आदि इस देश के विद्वान संस्कृत पढ़ने आक्सफ़र्ड गये थे। जो कुछ थोड़ा-बहुत काम इन लोगों ने किया है सब आक्सफर्ड के "बाडन प्रोफेसर आव् संस्कृत" के शिक्षा-प्रसाद से।

मुग्धानलाचार्य्य ने इसी तरह के कितने ही निर्मूल आक्षेप इस देश के संस्कृतज्ञों पर करके यह सिद्ध करना चाहा है कि—"सिविल सर्विस" वाले आपसे संस्कृत पढ़वाकर यहाँ भेजे जाया करें और अँगरेज़ों को यहाँ कालेजों में अच्छी-अच्छी तनख़्वाहों पर प्रोफेसरी दी जाया करे। सारा मतलब यह कि आपका ज्ञान भरा रहे और आपके देशवासियों का पेट। स्वार्थ, तेरी जय! आपकी स्वार्थपर और निन्दामूलक एक-एक बात का उत्तर श्रीयुक्त भाण्डारकरजी ने अँगरेज़ी में दे दिया है। इस बात को कोई छः वर्ष हुए। अतएव आचार्य्य मुग्धानल की कालकूट-गर्भित उक्तियों का निदर्शन मात्र ही यहाँ पर बस होगा।

आचार्य्य मुग्धानल की दो पुस्तकें यहाँ के विश्वविद्यालयों में पढ़ाई जाती हैं। एक तो आपका संस्कृत-व्याकरण, दूसरा संस्कृत-भाषेतिहास। आश्चर्य्य है, ऐसे भारतीय-पण्डित-द्वेषी विद्वान् की पुस्तकें भारत ही में प्रचलित की गईं। इन पुस्तकों में बहुत सी बातें समालोच्य हैं। आपका संस्कृतेतिहास और लोगों के इतिहास की अपेक्षा ज़रूर अच्छा है; पर उसमें भी

भ्रमपूर्ण बातें लिखी गई हैं। उनमें से एक-आध बात की समालोचना हम जून १९०७ की सरस्वती में कर भी चुके हैं। धीरे-धीरे और बातों की भी समालोचना करने का विचार है। आपकी पुस्तकों में कितनी ही भूलें हैं और बड़ी-बड़ी भूलें हैं। आपने "बृहद्देवता" नाम की पुस्तक का जो अनुवाद अँगरेज़ी में किया है उसमें ओझरजी ने, नमूने के तौर पर, दो-एक भीषण गलतियाँ बतलाई हैं जिन्हें देखकर मुग्धानलजी की संस्कृत-सम्बन्धी अज्ञता किंवा अल्पज्ञता पर दया आती है।

हमारे विश्वविद्यालय के नायकों ने मुग्धानल का संस्कृत-व्याकरण, कालेज की प्रारम्भिक पाठ्य-पुस्तकों में, रक्खा है। उसी को पढ़कर भारतीय युवक सही-सही संस्कृत लिखना और बोलना सीखते हैं। आपका रचा हुआ संस्कृत-भाषेतिहास बी० ए० में पढ़ाया जाता है। उसका तेरहवाँ अध्याय दृश्य-काव्यों के विषय में है। उसमें आचार्य ने संस्कृत-नाटकों के दो-चार पद्यों का अनुवाद अँगरेज़ी में दिया है। उसके विषय में बहुत कुछ कहने की जगह है।

दुष्यन्त शकुन्तला को देखकर और उसकी सुन्दरता पर मुग्ध होकर मन ही मन कहता है—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ?

राजा लक्ष्मणसिंह-कृत इसका अनुवाद यह है—

"सरसिज लगत सुहावनो जदपि लियो ढकि पंक।
जैसो ऐन कारो कलंक लसति कलाधर अंक॥
पहरे बल्कल बसन यह लागत नीको बाल।
कहा न भूषण होइ जो रूप लिख्यो विधि भाल॥"

शकुन्तला के रूप-वर्णन की यह बहुत ही सरस और मनोहारिणी उक्ति है। सहृदय मात्र इसके प्रमाण हैं। परन्तु कालिदास की यह उक्ति मुग्धानल को नहीं भाई। आपने कालिदास के उस श्लोक को अच्छा समझकर अनुवाद किया है जिसमें कवि ने शकुन्तला की उपमा लता से दी है। श्लोक यह है—

"अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम्॥"

राजा लक्ष्मणसिंह ने इसका अनुवाद किया है—

"अधर रुचिर पल्लव नये, भुज कोमल जिमि डार।
अङ्ग में यौवन सुभग, लसत कुसुम उनहार॥

इस श्लोक की अपेक्षा ऊपर का श्लोक कितना अच्छा है, इसका विचार पाठक ही करें। पर मुग्धानल साहब कहते हैं कि शकुन्तला की सुन्दरता पर मुग्ध होकर (Struck by her beauty) दुष्यन्त ने "अधरः किसलयरागः" को अपने मुँह से कहा। "मुग्ध" होने की बात मूल में तो कहीं है नहीं। पर कविता की मनोहरता और उसके लोकोत्तर भाव

को देखकर सम्भावना यही कहती है कि जिस समय दुष्यन्त ने "सरसिजमनुविद्धं" वाला श्लोक कहा था उसी समय शकुन्तला की सुन्दरता का सबसे अधिक प्रभाव उसके हृदय पर हुआ होगा। अतएव यहाँ मुग्धानल साहब पर अरसिकता-दोष आये बिना नहीं रह सकता।

कण्व ने अपने एक शिष्य से कहा कि देख आ, कितनी रात है? उसने आश्रम-कुटीर के बाहर आकर देखा तो प्रातः-काल हो गया था। इस पर वह कहता है—

अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे
दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीयशोभा।
इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य
दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि॥

इसका अर्थ राजा लक्ष्मणसिंह करते हैं—"चन्द्रमा के अस्त होने पर कुमुदिनी की शोभा केवल ध्यान में रह गई है। अर्थात् देखने में नहीं है, परन्तु सुध में है कि ऐसी थी। जिन नई स्त्रियों के पति परदेश हैं उनको वियोग का दुःख सहना बहुत कठिन है।" इसी भाव को उन्होंने पद्य में इस प्रकार दिखाया है—

अस्ताचल पहुँच्यो शशि जाई। दई कुमुदिनी छबि बिसराई
दृगन देति अब आनँद नाहीं। आय रही छबि सुमरन माहीं
जिन तिरियन के प्रीतम प्यारे। देस छोड़ि परदेस सिधारे
तिनके दुख नहिं जात कहेहू। अबलन पै क्यों जात सहेहू

कालिदास [illegible] ने 'शशिनि' कहने ही यथार्थ पद को। 'शश' [illegible] कलङ्क को। चन्द्रमा कलङ्की है [illegible] में उसका [illegible] मलिन हुआ। और, कलङ्की का अस्त हो जाना [illegible] ही है। इसी से इस पद को राजा साहब ने अपने अनुवाद में रहने दिया है। इस श्लोक में और भी विशेषतायें हैं। श्लोक के प्रथमार्द्ध में शशी के अस्त होने से कुमुदिनी को शोभाहीन बतलाकर कवि ने समासोक्ति-अलङ्कार द्वारा यह सूचित किया है कि बिना नायक के नायिका अच्छी नहीं लगती। अर्थात् चन्द्रमा और कुमुदिनी का विशेष दृष्टान्त देकर नायक-नायिका-सम्बन्धी एक सर्व-साधारण नियम की सूचना दी है। पर उत्तरार्द्ध में कवि ने इसका बिलकुल उलटा किया है। वहाँ उसने जो यह कहा है कि पति के परदेश-वासी होने से अबला (जो बलहीन हैं) मात्र को वियोग का दुःख दुःसह हो जाता है, सो एक सर्व-साधारण नियम है। इस साधारण नियम से अर्थान्तरन्यास-अलङ्कार द्वारा यह विशेष अर्थ निकलता है कि जब सभी अबलाओं को पति का वियोग दुःसह हो जाता तब चन्द्र-पति के अस्त हो जाने पर कुमुदिनी-पत्नी को उसका वियोग दुःसह होना ही चाहिए।

आचार्य्य सुधाकर ने इसका कैसा अनुवाद किया है सो अब सुनिए—

The moon has gone; the lilies on the lake,
Whose beauty lingers in the memory.

No more delight my gaze: they droop and fade;
Deep is their sorrow for their absent lord.

संस्कृत शब्द "शशिन्" कहने से जो भाव हृदय में उदित होता है वह मुग्धानल के "Moon" (चन्द्र) से कभी नहीं होता। खैर, इसे हम अँगरेज़ी भाषा की न्यूनता समझके छोड़ते हैं। (They droop and fade) अर्थात् वे मुरझा जाती हैं—यह आपने अपनी तरफ़ से जोड़ दिया है। खैर, यह भी क्षमायोग्य निरङ्कुशता है; क्योंकि मुरझाने, कुम्हलाने या झुक जाने का भाव ध्वनि से निकल सकता है। पर आचार्य ने चौथी लाइन में जो यह लिखा है कि—"अपने अनुपस्थित (ग़ैर हाज़िर) पति के कारण उन्हें बहुत बड़ा दुःख है"—सो किसी तरह क्षमायोग्य नहीं। पहले तो "प्रवास" का पूरा-पूरा अर्थ "absent" (अनुपस्थित—ग़ैर हाज़िर) से नहीं निकल सकता; क्योंकि "अनुपस्थिति" से थोड़ी देर का भी अर्थ निकल सकता है, पर "प्रवास" से नहीं। फिर यह कहना कि कुमुदिनियों का पति घर पर नहीं है, इससे उन्हें महादुःख हो रहा है, मानों कालिदास के भावार्थ का सत्यानाश करना है। कवि तो प्रत्यक्ष तौर पर कुमुदिनियों के दुःख की बात ही नहीं कहता। वह तो कहता है कि जितनी स्त्रियाँ—नहीं अबलायें—हैं सभी को पति का वियोग खलता है। जब सभी का यह हाल है तब कुमुदिनियों को दुःख होना ही चाहिए। वे स्त्री-जाति से बाहर नहीं। यहाँ पर

अबलाजन की मान-व्याख्या है; कुमुदिनियों को विनोद। कवि ने साधारण से विशेष की उद्भावना की है; विशेष से साधारण की नहीं। सो आचार्य मुग्धानल ने सभी उलट-पुलट कर डाला।

शकुन्तला में एक पद्य सर्वोत्तम समझा जाता है। वह उस समय का है जिस समय पति के घर जाने के लिए शकु-न्तला कण्व से विदा होती है। इस श्लोक का उत्तरार्द्ध है—

वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ।

अर्थात् —

मोसे वनवासीन जो इतो सतावत मोह ।
तौ गेही कैसे सहैं दुहिता प्रथम बिछोह ॥

यह पद्य पदजीवी है। इसमें "गृहिणः" पद सारे श्लोक का जीव है। इसी से राजा लक्ष्मणसिंह ने इसे अपने अनु-वाद से नहीं जाने दिया। देखिए आपके दोहे में "गेही" विद्यमान है। पर भारतवर्ष के पण्डितों पर सूक्ष्मदर्शी न होने का वृथा कलङ्क लगानेवाले मुग्धानल महाशय को यह बात नहीं सूझी। आपने "गृहिणः" पद की योग्यता को बिलकुल न जानकर उसे अनुवाद से निकाल बाहर किया है। उसकी जगह पर आपने रक्खा क्या है "फ़ादर"—पिता! आपने पूर्वोक्त पद्यार्द्ध का अनुवाद किया है—

But if the grief
Of an old forest hermit is so great,

How keen must be the pang a father feels
When freshly parted from a cherished child.

यहां पर "फ़ादर" (पिता) से कभी वह अर्थ नहीं निकल सकता जो गेही या गृहस्थ से निकलता है। श्लोक में वनवासी और गृहस्थ का मुक़ाबला है। कण्व न तो शकुन्तला के पिता थे; न गृहस्थ। तिस पर भी शकुन्तला से बिदा होते समय वे विह्वल हो उठे। अब यदि वे उसके पिता होते और वन में भी रहते होते तो उनकी विकलता और भी बढ़ती। और यदि कहीं पिता होकर वे गृहस्थ भी होते तो उनकी विकलता का कहीं ठिकाना न रहता। यदि किसी कन्या का पिता वन में तपस्वी हो तो उसे अपनी कन्या से बिदा होते समय जितना दुःख होगा उससे कई गुना अधिक उस कन्या के पिता को होगा जो घर में रहता होगा—जो गृहस्थ होगा। कारण यह है कि अरण्यवासी तपस्वी त्यागी होते हैं; मनोविकारों के वे कम वश में होते हैं; पर गृहस्थ आदमियों को माया-मोह बेतरह सताता है। इसी से उन्हें कन्या से हमेशा के लिए बिदा होते समय अत्यधिक दुःख और कातर्य्य होता है। पर यह इतनी मोटी बात सूक्ष्मदर्शी सुधानलाचार्य्य महोदय के ध्यान में नहीं आई जान पड़ती।

दुष्यन्त अपने पुत्र को देखकर मन ही मन कहता है—

अनेन कस्यापि कुलांकुरेण स्पृष्टस्य गात्रेषु सुखं ममैवम्।
कां निर्वृतिं चेतसि तस्य कुर्य्याद्यस्यायमङ्कात् कृतिनः प्ररूढः॥

अर्थात् जिस अपरिचित के इस बालक का मेरे शरीर में केवल एक जगह स्पर्श हो जाने ही से मुझे इतना आनन्द हुआ, वह जिस भाग्यवान की गोद में पलकर यह इतना बड़ा हुआ है उसके हृदय में यह न मालूम कितना आनन्दातिरेक पैदा करता होगा।

इसका अनुवाद आचार्य्य मुग्धानल ने किया है—

If now the touch of but a stranger's child
Thus sends a thrill of joy through all my limbs,
What transports must be wakened in the soul
Of that blest father from whose loins he sprang!

इसकी पहली दो सतरों का मतलब है कि किसी अपरिचित मनुष्य के इस लड़के के स्पर्श ने मेरे सब अङ्गों में सुख की सनसनाहट पैदा कर दी है। आचार्य्य ने "गात्रेषु" का अन्वय "सुख" के साथ किया है, "स्पृष्टस्य" के साथ नहीं; पर हमारी तुच्छ बुद्धि में यह भारी भूल है। कालिदास का भाव दुष्यन्त के कुछ अङ्गों में उस बालक के शरीर का स्पर्श हो जाने से है; सब अङ्गों में सुख होने से बिलकुल नहीं है। प्रिय वस्तु को देखने अथवा छूने से सुख सारे शरीर को होता ही है। उसके कहने की क्या ज़रूरत? उँगली में आलपीन चुभ जाने से वेदना का अनुभव यदि सारे शरीर को होता है

तो पुत्र का स्पर्श हाथ, छाती, या मुख में हो जाने पर भी सारे शरीर में सुख-सञ्चार होना चाहिए। खैर, यह तो एक बात हुई। दूसरी बात यह है कि आचार्य ने कालिदास के "कृतिनः" पद का अनुवाद "Father" (पिता) जो किया है सो भी ग़लत है। आचार्य को "पिता" शब्द से बड़ा प्रेम मालूम होता है। "गृहिणः" (गृहस्थ) का भी अर्थ आपने पिता कर दिया और "कृतिनः" का भी! "कृती" का अर्थ है पुण्यवान्, भाग्यशाली। सो लड़के का पालन-पोषण करने-वाले पिता, चचा, मामू, भाई सभी पुण्यवान् और सौभाग्य-शाली हो सकते हैं। तीसरी बात यह है कि मुग्धानलाचार्य ने "अङ्कात्प्ररूढः" का अर्थ जो "From whose loins he sprung" किया है सो अशुद्ध होने के सिवा उद्वेगजनक भी है। कालिदास का मतलब है कि जिसके अङ्क में, गोद में, उत्सङ्ग में, खेल-कूदकर यह इतना बड़ा हुआ है उसे न मालूम इसका स्पर्श कितना सुखदायक होगा। पर आचार्य के अँगरेज़ी-वाक्य का अर्थ है "जिसकी कमर से यह निकला या निकल पड़ा है उसके अन्तःकरण में यह न मालूम कितना सुख उत्पन्न करेगा?" अब सोचने की बात है कि भला कालि-दास ऐसी जघन्य बात कभी अपने मुँह से निकाल सकते हैं? "प्ररूढः" का अर्थ यहाँ बढ़ने या बड़े होने का है, पैदा होने या निकलने का नहीं। "Loins" का अर्थ अँगरेज़ी कोश-कार "कमर" ही लिखते हैं; पर आचार्य ने उसे "Lap" के

अर्थ में प्रयोग किया है। सम्भव है, इस शब्द का अर्थ "[illegible]" भी होता हो। इसके प्रमाद अंगरेज़ी-विद्या-विशारद विद्वान् हैं। वही इसका निर्णय करें।

डाक्टर मेकडानल ने अपने संस्कृत-साहित्य-इतिहास के १२वें अध्याय में छोटे-छोटे काव्यों पर भी कुछ लिखा है। ऋतु-संहार की आपने बड़ी तारीफ़ की है। इस काव्य के तीसरे सर्ग में शरदृतु का वर्णन है। उसका आदिम श्लोक है—

> काशांशुका विकचपद्ममनोज्ञवक्त्रा
>
> सोन्मादहंसरवनूपुरनादरम्या।
>
> आपक्वशालिरुचिरा तनुगात्रयष्टिः
>
> प्राप्ता शरन्नववधूरिव रूपरम्या॥

अर्थात् नव-विवाहिता वधू की तरह रमणीय रूपवाली शरद् आ गई। काश अथवा कास के फूल इसकी पोशाक हैं। खिला हुआ मनोमोहक कमल-समूह इसका मुख है। उन्मत्त हंसों का शब्द इसके नूपुरों की ध्वनि है। पके हुए धान के खेतों की शोभा इसके पतले गात की सुन्दरता है। इसका अर्थ मेकडानल साहब करते हैं—

"Next comes the autumn, beauteous as a newly wedded bride, with face of full-blown lotuses, with robe of sugarcane and ripening rice, with the cry of flamingoes representing the tinkling of her anklets."

इसमें आपने "तनुगात्रयष्टिः" का अर्थ करने की जरूरत ही नहीं समझी; और—"काशांशुका" और "आपक्वशालि-रुचिरा" का अर्थ आपने किया है—"With robe of sug-arcane and ripening rice"—अर्थात् ईख और पकते हुए धान जिसकी पोशाक हैं। यह अर्थ खूब रहा। आचार्यों के योग्य ही हुआ। ईख बेचारी का तो कहीं ज़िक्र ही नहीं। न मालूम साहब ने इसे कहाँ पाया। शायद आपकी पुस्तक में "इक्ष्वंशुका" पाठ रहा हो। पर सम्भावना कम है। क्योंकि यहाँ पर कालिदास का मतलब कास के सफ़ेद फूलों ही से है। इस बात को सर्ग के अन्त में उन्होंने—"विक-सितनवकाशश्वेतवासो वसाना"—कहकर स्पष्ट कर दिया है। शरद् ऋतु लगते ही कास फूलता है। यह लोक-प्रसिद्ध बात है। इसी को लक्ष्य करके कालिदास ने लिखा है। सो कास को आपने ईख कह दिया। अच्छा, इसे हम पाठान्तर माने लेते हैं। पर पकते हुए धान की पोशाक से क्या मत-लब ? कास या ईख की पोशाक तो शरद् को पहनाई जा चुकी, अब धान की पोशाक की और क्या ज़रूरत ? क्या दो पोशाकें एक ही साथ पहनाई जायँगी ? अथवा क्या एक ही पोशाक दो रङ्ग की होगी ? कवि का मतलब तो कुछ और ही मालूम होता है। उसका अभिप्राय तो धानों के खेतों के रङ्ग या रुचिरता से जान पड़ता है। जब धान के खेत पकने को होते हैं तब उनमें पीलापन आ जाता है। वह पीलापन कवियों

का है पसन्द। [illegible] के अर्थ को स्वच्छ पावक, आमीकर और पावकअग्नि से देते हैं। बड़ा भ्रम यहाँ भी है। रघुवंश की [illegible] के रघु की [illegible] के लिए कालिदास ने पके हुए धान के खेतों का स्मरण किया है। सो इसका अर्थ सुखानन्द साहब ने कुछ का कुछ करके नवोढ़ा शरद् को धान के पयाल की पोशाक पहना दी है! यह भी शायद आपकी पुस्तक में पाठान्तर होने का फल हो। पर जब तक यह न मालूम हो कि आपकी पुस्तक में क्या लिखा है तब तक आप हमें इस आलोचना के लिए क्षमा करें।

आपकी पुस्तक में इस तरह की तो अनेक भूलें हैं ही। पर और तरह की भी बहुत हैं। उनका फिर कभी विचार करेंगे। इस बार इतना ही बहुत।

सुनते हैं सुखानन्दाचार्य्य महाशय छोटे मोटे आदमियों से पत्र-व्यवहार करना नहीं पसन्द करते। यदि कोई ऐसा आदमी आपको पत्र भेजे या आपसे कुछ पूछे तो आप उसका उत्तर ही नहीं देते। और, अपना फ़ोटो तो कभी किसी ऐसे-वैसे को देते ही नहीं। शायद यही कारण है जो आज तक आपका चित्र अच्छे से अच्छे भारतवर्षीय सामयिक पत्रों में छपा हुआ नहीं देखने में आया। ऐसी बातें या तो गर्व से हो सकती हैं या शालीनता अथवा सङ्कोच से। आपके वेद-विद्या-गुरु भट्ट मोक्षमूलर में ये बातें न थीं। वे हमारे सदृश छोटे आदमियों से भी पत्र-व्यवहार करते थे। उन्हें यदि

कोई संस्कृत में पत्र लिखता था तो वे उत्तर में साफ़ कह देते थे कि भाई, हमें संस्कृत लिखने का अभ्यास नहीं। वे बड़े ही सच्चे, साधु-स्वभाव और भारतहितैषी थे। हमने पहले पहल उन्हें एक छोटी सी पुस्तक भेजी। उसके पहुँचते ही आपने अपनी एक पुस्तक हमें भेज दी और साथ ही अपना हस्ताक्षरित फोटो भी भेजा। इस बात को कोई १८ वर्ष हुए।

[जून १९०८

९—डाक्टर कीलहार्न

इंडियन ऐंटिक्वेरी में डाक्टर एफ़० कीलहार्न की मृत्यु का समाचार पढ़कर दुःख हुआ। १९ मार्च १९०८ को जर्मनी के गाटिंजन नगर में आपका शरीरान्त हुआ।

डाक्टर कीलहार्न बड़े नामी संस्कृतज्ञ थे। योरप वालों में जो लोग संस्कृत जानने का दावा रखते हैं उनमें से एक कीलहार्न ही ऐसे थे जिन्होंने संस्कृत-व्याकरण में अच्छी पारदर्शिता प्राप्त की थी। वैदिक-साहित्य और व्याकरण के शब्दों को छोड़कर संस्कृत-सम्बन्धी और बातों में पश्चिमी पण्डितों की पहुँच राम का नाम ही होती है। व्याकरण को तो वे प्रायः मुख-चुम्बन ही करके छोड़ देते हैं। पर डाक्टर कीलहार्न व्याकरण के आचार्य थे। हाँ, आचार्य हुए थे वे हिन्दुस्तानी ही पण्डितों की बदौलत।

डाक्टर साहब जर्मनी के निवासी थे। वहीं आपने संस्कृत पढ़ी थी। संस्कृत में कुछ विज्ञता प्राप्त कर लेने पर इस भाषा के अध्ययन से आपको इतना आनन्द मिलने लगा कि आपने इसे बराबर जारी रक्खा और अपने संस्कृत-ज्ञान को बराबर बढ़ाते ही गये। कुछ दिन तक आपको अध्यापक मोक्षमूलर के समागम का भी लाभ मिला। मोक्षमूलर उस समय ऋग्वेद का सम्पादन कर रहे थे। उस काम में कीलहार्न ने उनको बड़ी मदद

थी। शायद अध्यापक मोक्षमूलर ही की सिफ़ारिश से उन्हें पूने के डेकन-कालेज में संस्कृताध्यापक की जगह मिली। आपने भारत आने के पहले ही योरप में अपने संस्कृत-ज्ञान के विषय में बहुत कुछ नामवरी प्राप्त कर ली थी। आप अच्छे आलोचक और गुण-दोष-विवेचक समझे जाने लगे थे। जर्मनी के लेपज़िक नगर से आप शान्तनव के फिट्-सूत्रों का सम्पादन करके, १८६६ ईसवी में, उन्हें प्रकाशित कर चुके थे। उनके देखने से मालूम होता है कि व्याकरण में उस समय भी आपका अच्छा अभ्यास था।

फिट्-सूत्रों के प्रकाशित होने के कुछ ही समय बाद आपको भारतवर्ष आना पड़ा। यहाँ आप पूना के डेकन-कालेज में भारतवासियों को संस्कृत पढ़ाते रहे। डाक्टर साहब के दो-एक छात्रों से हमने सुना है कि आप अच्छी संस्कृत पढ़ाते थे। पर आपका संस्कृत-उच्चारण सुनकर बड़ा कौतूहल होता था।

भारत में आकर अनन्त शास्त्री पेंढरकर से आपने यथा-नियम व्याकरण पढ़ा। कोई बात पढ़ने से आपने बाकी नहीं रक्खी। आप अच्छे वैयाकरण हो गये। इसका फल यह हुआ कि आपने नागोजी भट्ट के 'परिभाषेन्दुशेखर' का सम्पादन करके उसे कई भागों में प्रकाशित किया। उसका आपने अनुवाद भी अँगरेज़ी में किया और यथास्थान टीका-टिप्पणियों से भी उसे भूषित किया। इतने ही से आपको सन्तोष न हुआ। आपने पतञ्जलि के व्याकरण-महाभाष्य का भी

सम्पादन सीरीज़ में किया । ... जिल्दों में यह पुस्तक समाप्त हुई । आपने बड़ा काम किया । इन ग्रन्थों के सिवा आपने व्याकरण पर और भी कितने ही छोटे-मोटे लेख लिखे । वे सब प्रकाशित हो चुके हैं ।

इसके बाद आपका ध्यान भारतवर्ष के प्राचीन शिलालेखों, ताम्रपत्रों और दानपत्रों की ओर गया । इसमें भी आपने अच्छा काम किया । कितनी ही नई-नई बातें मालूम कीं । कालिदास और माघ के स्थिति-समय के विषय में आपने कई खोजें कीं ; चेदि-संवत् के आरम्भ का भी आपने निश्चय किया । प्राचीन चोल और पाण्ड्य देशों के इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाले कई महत्त्वपूर्ण लेख भी आपने लिखे । एक काम आपने बहुत बड़ा किया । जितने प्राचीन शिलालेख आदि इस देश में तब तक निकले और छापे गये थे उन सबकी एक तालिका बनाकर आपने प्रकाशित कर दी ।

कोई ४२ वर्ष हुए जब डाक्टर कीलहार्न पहले पहल इस देश में आये थे । बहुत वर्षों तक पूने में अध्यापना करके आप जर्मनी लौट गये । वहाँ आपको गाटिंजन के विश्व-विद्यालय में संस्कृताध्यापक की जगह मिली । स्वदेश पहुँचकर भी आप ग्रन्थ-सम्पादन करने और नई-नई बातें खोजने में बराबर लगे रहे । इस देश से जर्मनी लौट जाने पर डाक्टर बूलर ने एक ऐसी पुस्तक निकालना आरम्भ किया जिसमें आर्यों से सम्बन्ध रखनेवाली बातों के तत्त्वानुसन्धान-विषयक

लेख निकलते थे। जब तक डाक्टर बूलर रहे, इसका सम्पादन करते रहे। उनके मरने के बाद डाक्टर कीलहार्न ही ने उसे चलाया। डाक्टर कीलहार्न और बूलर ने इस पुस्तक का सम्पादन ऐसी योग्यता से किया, और संस्कृताध्ययन तथा पूर्वी-पुरातत्त्व-विषयों का इतना प्रचार किया कि नये-नये जर्मन विद्वान् पैदा हो गये और इस पुस्तक में बड़े-बड़े महत्त्वपूर्ण लेख निकलने लगे।

दुःख की बात है कि ऐसा विद्वान् संसार से उठ गया। डाक्टर साहब अभी बहुत बूढ़े न थे। आपकी उम्र कोई ६५ वर्ष की रही होगी। ख़ूब तगड़े थे। लिखने-पढ़ने में जवानों की तरह काम करते थे। समय आ जाने पर मृत्यु न उम्र देखती है, न दशा देखती है, न और ही किसी बात को देखती है। उसका शासन अनुल्लङ्घनीय है।

[दिसम्बर १९०८

७—अमेरिका के सर्वश्रेष्ठ समाचार-पत्र-सञ्चालक विलियम हार्स्ट

अमेरिका अख़बारों का घर है। सबसे अधिक अख़बार वहीं निकलते हैं। वहाँ अख़बारों का प्रभाव भी बहुत बढ़ा-चढ़ा है। अख़बार ही पब्लिक के सच्चे नेता समझे जाते हैं। इस समय अमेरिका में जितने अख़बारवाले हैं उन सबके शिरोमणि, सबसे अधिक धनवान, प्रभावशाली, योग्य और कार्यकुशल विलियम हार्स्ट हैं। किसी किसी का कथन है कि केवल अमेरिका ही नहीं, किन्तु सारे संसार में ऐसा चलता-पुर्ज़ा समाचार-पत्र-सञ्चालक दूसरा न होगा।

जन्म और शिक्षा

हार्स्ट साहब का जन्म १८६४ ईसवी में कैलीफ़ोरनिया की राजधानी सानफ़्रांसिस्को नगर में हुआ था। आपके पिता सिनेटर हार्स्ट कैलीफ़ोरनिया के प्रसिद्ध करोड़पति थे। वे कई खानों के मालिक थे। खानें खुदवाकर खनिज पदार्थ निकालना और उनका व्यापार करना ही उनका पेशा था। इसी की बदौलत वे इतने सम्पत्तिशाली हुए थे। शैशवावस्था के व्यतीत होने पर उन्होंने अपने पुत्र हार्स्ट को हारवर्ड-विश्व-

विद्यालय भेज दिया। वहाँ बालक हार्स्ट की शिक्षा प्रारम्भ हुई। कई साल तक पढ़ने के बाद आप बिना कोई पदवी प्राप्त किये वहाँ से लौट आये और घर में रहने लगे।

युवावस्था

अब आपका समय व्यर्थ गप्पाष्टक और थियेटरबाज़ी में नष्ट होने लगा। इसी समय थियेटर में तमाशा करनेवाली एक परमा सुन्दरी पर आप आसक्त हो गये। आपने उसके साथ विवाह करना चाहा। पर आपके कुटुम्बियों ने इसे अनुचित समझकर इस विवाह को न होने दिया। इस पर हार्स्ट साहब ने प्रसिद्ध अँगरेज़ी कवि बाइरन के चरित्र का अनुकरण किया। कई वर्ष बाद एक अन्य स्त्री के साथ विवाह होने पर आपकी यह आवारागर्दी जाती रही। अथवा यों कहिए कि आपकी काया पलट गई।

अख़बारी दुनिया में प्रवेश

आवारागर्दी के ज़माने में एक दिन आपकी इच्छा हुई कि हम भी कोई समाचार-पत्र निकालें। इस इच्छा को कार्य में परिणत करने के लिए आपने अपने पिता से सहायता माँगी। सुनते ही वृद्ध पिता को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने इस काम में धन नष्ट करना उचित न समझा; इसलिए अपने पुत्र से इस इच्छा को त्याग देने के लिए कहा। पर हार्स्ट ने न

माना। जैसे-तैसे पिता ने सहायता देना स्वीकार किया। आप सानफ्रान्सिस्को एग्जामिनर (San Francisco Examiner) नाम का समाचारपत्र निकालने लगे। जिन लोगों ने उसे देखा है उनका कथन है कि निकलने के बाद ही इस पत्र ने अमेरिका के पश्चिमी किनारेवाले देशों को हिला दिया। सारे देश में इसकी धूम मच गई। इसके लेखों को पढ़कर दुष्ट, दुराचारी, अत्याचारी और पापियों के हृदय थर-थर काँपने लगे। आपकी निर्भीक नीति ने जादू का सा असर किया। जिन 'चोरों की दाढ़ी में तिनका' था वे मैदान छोड़-छोड़कर भागने लगे। पापियों ने पराजय स्वीकार किया। कैलीफोर्निया के सच्चरित्र सज्जन आपकी कलई खोलने और भण्डा फोड़नेवाली नीति की शतमुख से प्रशंसा करने लगे। कुछ दिनों में इस पत्र की ग्राहक-संख्या इतनी बढ़ी कि उससे ख़ूब लाभ होने लगा।

कार्य्यविस्तार

सानफ्रान्सिस्को में आपने जैसी सफलता प्राप्त की उससे आपका उत्साह ख़ूब बढ़ गया। १८६४ में आपने अमेरिका के दूसरे छोर न्यूयार्क से भी एक अख़बार निकालने का निश्चय किया। उस समय न्यूयार्क में "न्यूयार्क वर्ल्ड" के प्रसिद्ध सम्पादक पुलिटज़र साहब की तूती बोलती थी। पर हार्स्ट के समान प्रतिभाशाली और करोड़पति के मुक़ाबले में ठहरना

हर एक का काम न था। आपने पलिट्ज़र के सब योग्यतम कार्यकर्त्ता अपनी ओर कर लिये। पलिट्ज़र के तनख़्वाह बढ़ाने पर वे फिर उधर चले गये। इस पर आप इतना अधिक वेतन देने को तैयार हुए जितना पलिट्ज़र के ख़याल में भी नहीं आ सकता था। अन्त में आपकी जीत हुई। थोड़े ही दिनों में आपका पत्र न्यूयार्क जरनल (New York Journal) अमेरिका के सब अख़बारों से बाज़ी मार ले गया। उसकी ग्राहक-संख्या सबसे अधिक हो गई और वह औवल दर्जे का अख़बार समझा जाने लगा।

हार्स्ट साहब के अख़बारों की वर्तमान दशा

हार्स्ट साहब इस समय जुदे-जुदे नौ समाचारपत्रों और तीन मासिक-पुस्तकों के स्वामी और सञ्चालक हैं। ये बारहों पत्र अमेरिका के पांच बड़े-बड़े नगरों अर्थात् बोस्टन, न्यूयार्क, शिकागो, सानफ्रांसिस्को और लास ऐंगलीज़ से प्रकाशित होते हैं। इन पत्रों की ग्राहक-संख्या बीस लाख से कुछ ऊपर है और दिन पर दिन बढ़ती जाती है। मतलब यह कि हार्स्ट साहब प्रति दिन बीस लाख आदमियों से बातचीत करते हैं। कुछ ठिकाना है! इस संसार में किसी वक्ता को इतने अधिक श्रोता शायद ही कभी मिले होंगे।

हार्स्ट साहब ने अपने अख़बारी कारोबार में कोई चार करोड़ रुपये अपनी गाँठ के लगा रक्खे हैं। पूर्वोक्त बारहों

पत्रों के प्रकाशित करने में हर साल बारह करोड़ रुपये खर्च करते हैं। इस काम में प्रतिदिन एक लाख तीस हज़ार रुपये आपके खर्च हो जाते हैं !! पत्रों की तीस लाख कापियाँ तैयार करने में प्रतिदिन चार हज़ार मन कागज़ खर्च होता है। इस समय आपके अधीन काम करनेवालों की संख्या उन्नीस हज़ार के क़रीब है। इनमें से चार हज़ार तो दफ़्तरों में काम करनेवाले स्थायी कर्मचारी हैं और कोई पन्द्रह हज़ार संवाद-दाता। आपने अपने कारोबार में बेहद उन्नति की है, इसका अनुमान केवल इस बात से किया जा सकता है कि जिस न्यूयार्क जर्नल को आपने साढ़े चार लाख रुपये में खरीदा था, उस समय उसकी लागत क़रीब ढाई करोड़ रुपये की है।

उद्देश और कार्य

हार्स्ट साहब के अख़बारों को अमेरिका के साधारण तथा नीची श्रेणी के लोग बहुत पसन्द करते हैं। क्योंकि उनमें उन्हीं के मतलब की बातें अर्थात् किस्से, चुटकुले, [illegible], रहस्य-उद्घाटन और चौंका देनेवाली ख़बरें अधिक रहती हैं। इसके सिवा सर्वसाधारण की दशा सुधारना, उन पर अत्याचार न होने देना, ग़रीबों को सतानेवालों की ख़बर लेना और अदालत द्वारा उनको दण्ड दिलवाना आपके पत्रों का मुख्य उद्देश है। इसी कारण लाख लाख दरिद्र नर-नारी आपके पत्रों

को ख़ुशी से ख़रीदते, पढ़ते, उनसे मन बहलाते और लाभ उठाते हैं। इन पत्रों का उन पर प्रभाव भी ख़ूब पड़ता है। जैसा हार्स्ट साहब कहते हैं, पढ़नेवाले वैसा ही करते हैं। आपके पत्रों द्वारा अमेरिकन लोगों ने किस क़दर और कहाँ तक राजनैतिक, सामाजिक, पारिवारिक, नैतिक और आर्थिक लाभ उठाया है, यदि इसका ब्योरेवार वृत्तान्त लिखा जाय तो एक ग्रन्थ तैयार हो सकता है। न मालूम कितने देश-द्रोही, समाज-द्रोही, दुष्ट और पापी जनों ने आपके पत्रों की बदौलत अपने कुकर्मों का कुफल चखा है। न मालूम कितने बार आपके पत्रों ने करोड़ों रुपयों की हानि से गवर्नमेंट और प्रजा को बचाया है। इसी तरह इनकी कृपा से न मालूम कितने निरपराधियों ने अकाल-मृत्यु के पञ्जे और जेल की यातना से मुक्ति पाई है। धन्य मिस्टर हार्स्ट! धन्य तुम्हारी न्याय-प्रियता!

हार्स्ट साहब के कर्मचारी

अमेरिका में इस समय जो सबसे अधिक योग्य, विद्वान्, प्रतिभाशाली और कार्यदक्ष पत्र-सम्पादक हैं उनमें से अधिकांश आपके अधीन काम करते हैं। आपके पत्रों की उन्नति का यह भी एक कारण है। आप उन्हें तनख़्वाह भी अच्छी देते हैं। इतनी अधिक तनख़्वाह पानेवाले सम्पादक केवल अमेरिका ही नहीं, किन्तु किसी देश में न होंगे। आपका

सबसे अधिक वेतन पानेवाला कर्मचारी पाँच लाख रुपये वार्षिक पाता है। अर्थात् अमेरिका के प्रेसीडेंट की तनख़्वाह से दूना! दूसरा आदमी एक लाख बीस हज़ार रुपये पाता है, तीसरा नब्बे हज़ार। तीन सम्पादक पचहत्तर-पचहत्तर हज़ार रुपये वार्षिक पाते हैं। यहाँ पर यह लिखे बिना नहीं रहा जाता कि हार्स्ट साहब के अधीन काम करनेवाला एक सहकारी सम्पादक जितनी तनख़्वाह (पचहत्तर हज़ार) पाता है उतनी ही हमारी जन्मभूमि भारतवर्ष के कर्ता, धर्ता और विधाता भारतसचिव भी पाते हैं। अर्थात् तनख़्वाह के लिहाज़ से इँगलैंड का एक राजमन्त्री और अमेरिका का एक सहकारी सम्पादक एक हैसियत रखता है। इससे पाठक अनुमान कर सकते हैं कि हमारे देश के पत्रसम्पादकों की तरह अमेरिका के सम्पादक दीन, हीन और दरिद्र नहीं।

सूरत, शकल और स्वभाव आदि

हार्स्ट साहब ख़ूब लम्बे-चौड़े आदमी हैं। लम्बाई में वे छः फ़ीट दो इञ्च हैं। शरीर भारी होने पर भी सुदृढ़ और गठीला है। ज़ाहिरा पहलवान से जान पड़ते हैं।

हार्स्ट साहब करोड़पति हैं। अख़बारी सम्पत्ति के सिवा कोई दस लाख एकड़ भूमि के भी वे मालिक हैं। पर वे रुपये की परवा नहीं करते। उसे वे पानी की तरह बहाते हैं। अपने सुख के लिए नहीं, किन्तु सात करोड़ अमेरिकनों

के उपकार के लिए। करोड़पति होने पर भी उनमें अभिमान छू तक नहीं गया। वे बड़े ही सीधे-सादे, श्रमसहिष्णु, दृढ़-सङ्कल्प, शान्त, दयालु और न्यायप्रिय हैं। वे तम्बाकू या मदिरा कभी नहीं पीते। घुड़दौड़ या और किसी खेल का उन्हें शौक़ नहीं। नाच, गान, सैर, शिकार से सदा दूर रहते हैं। धनवानों से कम मिलते हैं। साधारण मनुष्य ही उनके मित्र हैं। एक मामूली मकान में रहते हैं और अपने काम से काम रखते हैं।

क्या हार्स्ट साहब के चरित्र से हम लोग कुछ शिक्षा नहीं प्राप्त कर सकते?

[फ़रवरी १९०६

८—अलबरूनी

प्राचीन काल से लेकर अब तक न मालूम कितने ग्रीक, रोमन, चीनी, अरब, तुर्क, फ्रेंच और अंगरेज़ आदि विदेशी भारतवर्ष में आये हैं। उनमें से सैकड़ों ने भारतवर्ष-विषयक पुस्तकें भी लिखी हैं। भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास का प्रायः अभाव है। अतएव वे पुस्तकें इस देश का इतिहास सङ्कलित करने में बड़ी सहायक हुई हैं। इस हिसाब से ये ग्रन्थ बड़े ही उपयोगी हैं, परन्तु उनमें से अधिकांश ग्रन्थ भ्रमात्मक और ईर्ष्या-द्वेष-पूर्ण हैं। कारण यह कि लेखकों ने बिना अच्छी तरह खोज किये ही, जो कुछ उनकी समझ में आया, लिख मारा है। हां कुछ लेखक ऐसे भी हैं जिन्होंने काफ़ी खोज के बाद उदारतापूर्वक अपने ग्रन्थ लिखे हैं। इतिहासकार अलबरूनी इसी श्रेणी के लेखकों में से।

अलबरूनी के जीवन का इतिहास नितान्त संक्षिप्त है। वर्तमान खीवा नगर के निकट, सन ९७३ ईसवी में, उनका जन्म हुआ था। उनका असली नाम अबूरैहान था। बाल्यकाल में उन्होंने गणित, ज्योतिष और विज्ञान की शिक्षा पाई थी। धीरे-धीरे उन्होंने इन विषयों में अच्छी पारदर्शिता प्राप्त कर ली थी। अलबरूनी की जन्मभूमि प्राचीन खान्द्राक (खमख) राज्य के अन्तर्गत थी। वहां इसलाम के अभ्युदय के पहले

बौद्ध धर्म का प्रचार था। युवावस्था में अलबरूनी खीवा-नरेश के मन्त्री हो गये। इस दशा में उन्होंने अपने देश को स्वाधीन बना रखने के लिए बड़ी चेष्टा की। परन्तु १०१७ ईसवी में ग़ज़नी के दिग्विजयी सुलतान महमूद ने खीवा की स्वाधीनता छीन ली और राज्य-परिवार के साथ अलबरूनी को भी क़ैद करके ग़ज़नी भेज दिया। वहाँ राजपरिवार की बड़ी दुर्दशा हुई। परन्तु अलबरूनी के पाण्डित्य का ख़याल करके महमूद ने उन पर कृपा की और उन्हें मुलतान भेज दिया।

मुलतान में अलबरूनी कोई तेरह वर्ष रहे। यह समय उन्होंने संस्कृत सीखने और ज्ञानालोचना करने में बिताया। इसके बाद जब सुलतान महमूद की मृत्यु हुई तब उन्होंने "इंडिका" की रचना की। इंडिका किसी ग्रन्थ विशेष का अनुवाद नहीं; किन्तु मूल ग्रन्थ है। यह बड़ी दुरूह अरबी भाषा में लिखा गया है। साधारण अरबी जाननेवाला इसे नहीं समझ सकता। परन्तु पाश्चात्य पण्डितों की कृपा से अब उसका अनुवाद अनेक योरपियन भाषाओं में हो गया है।

भारतीय साहित्य, दर्शन, गणित, ज्योतिष और धर्मशास्त्र आदि का अध्ययन तथा लोकाचार-पर्यवेक्षण करके अलबरूनी ने भारतीय शिक्षा, दीक्षा, सभ्यता और सदाचार के सम्बन्ध में जो तथ्य संग्रह किया था उसी को वह इंडिका में लिख गया है। इंडिका के सिवा अलबरूनी ने ऐसे और भी ग्रन्थ रचे हैं, जिनमें उसने भारतीय गणित और ज्योतिष की आलोचना की है।

अलबरूनी का इस समय यूरोप में [illegible] हुआ है। यूरप के बड़े-बड़े विद्वान् उसे देखकर मुग्ध हो जाते हैं और उसके रचयिता की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हैं। अलबरूनी अरबी और संस्कृत दोनों ही भाषाओं का उत्कृष्ट विद्वान् था। उसमें दोनों देशों के ज्ञानभाण्डार का सार ग्रहण करने की असाधारण शक्ति थी। यह बात उसकी इंडिका से अच्छी तरह प्रकट होती है।

अलबरूनी ने भारतवर्ष-विषयक बातों का यथारीति अध्ययन करने की यथेष्ट चेष्टा की। उसने राजाओं की नामावली और लड़ाई-झगड़े की बातों को लेकर समय नष्ट नहीं किया। केवल हिन्दू-सभ्यता के निदर्शन-भूत दर्शन, विज्ञान, गणित, ज्योतिष और विविध आचार-व्यवहारों का विस्तृत विवरण सङ्कलित करने की उसने चेष्टा की। उस समय काश्मीर और काशी संस्कृत-शिक्षा के केन्द्र-स्थान थे। परन्तु वहाँ मुसल्मानों को घुसने की आज्ञा न थी। इस पर अलबरूनी ने बड़ा अफ़सोस ज़ाहिर किया है। इसी लिए सिन्ध जाकर उसने संस्कृत सीखी और वहीं से ग्रन्थों का संग्रह प्रारम्भ किया। पर बेचारा, अर्थाभाव के कारण, मनमाने ग्रन्थों का संग्रह न कर सका। इसका उल्लेख उसने इंडिका में कई जगह किया है।

अलबरूनी में सबसे बड़ा गुण यह था कि वह विद्वान् होने पर भी अध्ययनशील था और मुसलमान होने पर भी

हिन्दुओं से द्वेषभाव न रखता था। यह बात 'इंडिका' के प्रत्येक पृष्ठ से प्रकट होती है। जिन्होंने उसे एक बार भी पढ़ा है वे उसके मतों की उदारता और सच्ची समालोचना-शक्ति पर मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकते। उसने जहाँ हम लोगों के आचार, व्यवहार और शिक्षा-दीक्षा के प्रतिकूल समालोचना की है वहाँ पर मूल संस्कृत-शास्त्र का प्रमाण अवश्य उद्धृत किया है। ऐसा किये बिना उसने कोई मन्तव्य प्रकाशित नहीं किया। प्रतिकूल समालोचना करते समय उसने एक जगह यह भी लिखा है—"सम्भव है कि इस उद्धृत अंश का कोई और सुसङ्गत अर्थ हो; परन्तु अब तक मैंने उसे नहीं सुना।" यह हम लिख चुके हैं कि अरबी और ग्रीक-भाषा-विशारद अलबरूनी ने संस्कृत-साहित्य का अध्ययन करने के बाद 'इंडिका' रची थी। उसकी 'इंडिका' के साथ संस्कृतानभिज्ञ अँगरेज़-लेखकों के ग्रन्थों की तुलना नहीं हो सकती।

अलबरूनी ने जब 'इंडिका' की रचना की थी तब मुसलमान लोग भारतवर्ष को काफ़िरस्तान कहकर घृणा करते और पराजित देश समझकर उसकी उपेक्षा करते थे। इधर भारतवासी मुसलमानों को म्लेच्छ कहकर तिरस्कार करते और विजेता समझकर भय खाते थे। उस समय ग़ज़नी के सुलतान और उसके अनुयायी विजयोल्लास में मग्न होकर भारतवर्ष का वक्ष विदीर्ण करने में लगे हुए थे। ऐसे समय में एक मुसलमान का काफ़िरों का धर्मशास्त्र पढ़ना और समालोचना

करने में धीरता से काम लिया। ऐतिहासिक-घटनाओं से प्रत्येक विषय की मीमांसा करना बड़े विद्वान् का काम है। 'इंडिका' से मालूम होता है कि काफ़िर होने पर भी हिन्दू अलबरूनी के विचार में भक्ति और श्रद्धा के पात्र थे। आजकल के यूरोपियन विद्वान् कहते हैं कि इसका एक विशेष कारण था। वह यह कि जिस सुलतान महमूद ने अलबरूनी की जन्मभूमि खीवा की स्वाधी-नता हरण की थी उसी ने भारतवर्ष को भी जीता था। अत-एव स्वाधीनता-बलविवर्जित स्वदेश-प्रेमी के लिए सम-दुःख-दुःखी एक पराधीन देश के प्रति सहानुभूति का होना स्वाभाविक ही है। जो हो, यद्यपि अलबरूनी ने इस्लाम-धर्म का माहात्म्य प्रकाशित करने में कोई कसर नहीं रक्खी, तथापि उस हिंसा-विद्वेष के युग में भी उसने हिन्दुओं को काफ़िर समझकर उनसे घृणा नहीं की। इस बात को पाश्चात्य पण्डित भी मानते हैं।

अलबरूनी मूर्त्तिपूजा को अच्छा न समझता था। वह कहता था कि मूर्तिपूजा साधारण आदमियों ही के लिए है; विद्वानों के लिए तो एकेश्वरवाद है। भारत का वेदान्त-सम्मत धर्म इस्लाम के एकेश्वरवाद धर्म से मिलता जुलता है, यह बात अलबरूनी ने कई बार लिखी है।

अलबरूनी ने जिस समय 'इंडिका' रची थी वह समय एशिया-खण्ड के लिए विप्लव का युग था। एक ओर बौद्ध और हिन्दुओं के सङ्घर्ष के कारण बौद्ध लोग विनाशित हो रहे थे। दूसरी ओर बौद्ध और इसलाम के परस्पर युद्ध में इस-

लाम विजयी हो रहा था। बीच-बीच में ईसाइयों और मुसलमानों में भी झगड़ा हो जाता था। इससे ईसाई लोग एशिया से भाग जा रहे थे। इस विप्लव के समय में दर्शनशास्त्रों की चर्चा की जगह बाहुबल और शान्त समालोचना की जगह तेज तलवार चल रही थी। इससे कुछ दिन के लिए उच्च शिक्षा विलुप्त हो गई थी। अशिक्षित सेना-दल प्राधान्य और प्रतिष्ठा-लाभ कर रहा था। इसी लिए विजयोन्मत्त मुसलमान लोग भारतवर्ष को काफ़िरस्तान कहने में कुछ भी सङ्कोच न करते थे। भारतवर्ष ही के विपुल ज्ञान-भाण्डार ने अरबी-साहित्य की प्राण-प्रतिष्ठा की है और उसके द्वारा जंगली बिद्दुइनों को विद्वान् बनाया है। इस बात को अलबरूनी की तरह दो-चार विद्वानों के सिवा और कोई न जानता था और सुनने पर भी विश्वास न करता था। अलबरूनी भारतवर्ष पर क्यों अनुरक्त था और बाल पक जाने पर क्यों संस्कृत सीखी थी, यह बात समझने के लिए अरबी-साहित्य की आलोचना करना चाहिए।

यद्यपि अरबी भाषा बहुत पुरानी है तथापि अरबी-साहित्य ग्रीक और हिन्दू-साहित्य की तरह बहुत पुराना नहीं। कुछ दिन पहले बहुत लोग इस बात को न मानते थे। परन्तु जर्मनी के पुरातत्त्ववेत्ताओं ने इस बात को सत्य सिद्ध कर दिया है।

अरबी के प्राचीन साहित्य में केवल कविता ही की अधिकता थी। मरुभूमि अरब के निवासी उसी को यथेष्ट समझते थे। कुछ दिन बाद क़ुरान और हदीस भी उसमें मिल गई।

परन्तु तब भी अरबी-साहित्य में केवल इने-गिने ग्रन्थ थे। इसके कई सौ वर्ष बाद तक उसकी यही दशा रही। इसमें सन्देह नहीं कि अरब की [illegible] ही में इस्लाम धर्म का अभ्युदय हुआ था; परन्तु वहाँ उसने ज्ञान-गौरव-लाभ नहीं किया। सुप्रसिद्ध बग़दाद राजधानी में इस्लाम-धर्म और अरबी साहित्य का गौरव-लाभ हुआ।

पश्चिमी देशों के साथ भारत का व्यापार प्राचीन काल से बग़दाद ही के रास्ते होता था। इसलिए उन देशों में भारत-वासी बराबर आते-जाते थे। किसी समय बौद्ध धर्म-प्रचारकों ने एशियाखण्ड के उन सब पश्चिमी देशों में बौद्धधर्म का खूब प्रचार किया था। उनके द्वारा भारतीय साहित्य का प्रचार भी इन देशों में हो गया था। कुछ दिनों बाद इस्लाम-धर्म ने आकर बौद्धधर्म को वहाँ से निकाल दिया और अपना राज्य जमा लिया। बौद्धधर्म तो वहाँ से विलुप्त हो गया; परन्तु बौद्ध लोग वहाँ से विलुप्त नहीं हुए। इसका अर्थ यह है कि जो लोग बौद्ध थे वही मुसलमान हो गये। मुसलमान-राज्य का केन्द्र पहले दमिश्क नगर में प्रतिष्ठित हुआ। परन्तु राज्य-संस्थापना की गड़बड़ के कारण वहाँ साहित्य-चर्चा उन्नति-लाभ न कर सकी। इसके बाद मुसलमान-साम्राज्य का केन्द्र-स्थान बग़दाद हुआ। सच पूछिए तो यहीं मुसलमानों में ज्ञान-पिपासा उत्पन्न हुई। उस समय विपुल भारतीय साहित्य के सामने क्षुद्र अरबी-साहित्य को कोई न पूछता था। अतएव

बग़दाद के खलीफ़ा लोग भारतीय साहित्य-भाण्डार को हस्तगत करने के लिए व्यग्र हो उठे। दो कारणों से यह व्यग्रता और भी प्रबल हो उठी।

इस्लाम-धर्म के अभ्युत्थान की प्रथम अवस्था ही में फ़ारिस मुसलमानों के कब्ज़े में आ गया था। बाहुबल में बलवान् होने पर भी बग़दाद ज्ञान-बल में फ़ारिस के समकक्ष न था। फ़ारिस ने किसी समय ग्रीक-शिक्षा के कारण अच्छी उन्नति लाभ की थी। अतएव पराजित होने पर भी फ़ारिस बग़दाद की अपेक्षा अधिक ज्ञानोन्नत समझा जाता था। भारतवर्ष की शिक्षा ही फ़ारिस की ज्ञानोन्नति का मूल है। यह बात जानते ही बग़दाद-वासी भारतीय ज्ञान-भाण्डार को करतलगत करने के लिए व्याकुल हो उठे। इसी समय ब्रह्मगुप्त के "ब्रह्मस्फुट-सिद्धान्त" का अनुवाद अरबी में किया गया।

उस समय तक जिन-जिन देशों में मुसलमानों का राज्य था उन सबमें भारतीय ज्ञान का यश:सौरभ फैला हुआ था। उस समय इस्लाम केवल एक नवोत्थित महाशक्ति थी; उसके पास पूर्व-ज्ञान-गौरव कुछ भी न था। परन्तु भारतवर्ष बहुत प्राचीन सभ्य देश है। मुसलमानों में उसके ज्ञान-भाण्डार को हस्तगत करने की इच्छा का होना स्वाभाविक ही था। इसी समय अरबनिवासियों ने भारतवासियों से ज्योतिष-विद्या का वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त किया। इस बात को सब लोग मानते हैं।

सुप्रसिद्ध खलीफ़ा हारूनुर्रशीद के समय में अरबी-साहित्य की खूब उन्नति हुई। प्राचीन बाल्हीक-राज्य के "नवविहार" नामक प्रसिद्ध बौद्ध मठ के 'परमक' नामक बौद्ध यति के वंशधर उस समय हारूनुर्रशीद के मन्त्री थे। वे उस समय मुसलमान हो गये थे और 'बरमका' गोत्रीय कहलाते थे। उनकी चेष्टा से भारतीय गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, धनुर्वेद, दर्शन, विज्ञान और चिकित्सा-विद्या के सैकड़ों ग्रन्थ अरबी-भाषा में अनुवादित किये गये। इसके साथ ही मिश्र और ग्रीस देश का साहित्य अरबी-साहित्य को दिन-दिन उन्नत करने लगा।

इस तरह अलबरूनी के पैदा होने के पहले ही अरबी-साहित्य उन्नत हो चुका था। उसका पूर्ण रूप से अध्ययन करने के बाद अलबरूनी के मन में शुद्ध संस्कृत सीखने की इच्छा उत्पन्न हुई। भारतवर्ष में निर्वासित होने पर उसकी यह इच्छा पूर्ण हुई। संस्कृत-ग्रन्थों का अरबी-अनुवाद अध्ययन करते समय अलबरूनी भारतीय-साहित्य के केवल द्वार पर पहुँचा था। अब उसके भीतर प्रवेश के लिए उसका संस्कृतानुराग प्रबल होने लगा। अलबरूनी की धारणा थी कि मूल संस्कृत-ग्रन्थ का माधुर्य्य अरबी-अनुवाद में रक्षित नहीं रहता। संस्कृत सीखने पर उसकी यह धारणा बद्ध-मूल हो गई। इस समय अलबरूनी एक मुसलमान साहित्य-प्रेमी के साथ अक्सर तर्क-वितर्क किया करता था। उसका विचार था कि मूल संस्कृत-ग्रन्थ अध्ययन करने के लिए परिश्रम करना व्यर्थ है; अरबी-

साहित्य में जो अनुवाद मौजूद हैं वही यथेष्ट हैं। परन्तु अल-बरूनी का मत उसके विपरीत था। धीरे-धीरे दोनों में वाद-विवाद बढ़ गया। अतएव अलबरूनी ने अपने मत का महत्त्व स्थापन करने के लिए मूल संस्कृत-शास्त्रों के प्रमाण उद्धृत करके 'इंडिका' की रचना प्रारम्भ की।

'इंडिका' के पढ़ने से मालूम होता है कि उसकी रचना के पहले अलबरूनी ने कई संस्कृत-ग्रन्थों का अध्ययन किया था। उनमें से सांख्यदर्शन, योगदर्शन, गीता, विष्णुपुराण, मत्स्य-पुराण, वायुपुराण, आदित्यपुराण, पुलिशसिद्धान्त, ब्रह्मसिद्धान्त, बृहत्संहिता, पञ्चसिद्धान्तिका, करणसार, करणतिलक, भुवन-कोश और चरक विशेष उल्लेख योग्य हैं। इसके सिवा रामायण, महाभारत, मानवधर्मशास्त्र, छन्दः-शास्त्र और सामुद्रिक-शास्त्र-विषयक ग्रन्थ भी अलबरूनी ने पढ़े थे। क्योंकि उनका उल्लेख भी 'इंडिका' में, जगह-जगह पर, पाया जाता है।

[मई १९११

८—अध्यापक एडवर्ड हेनरी पामर

पाश्चात्य देशों में पूर्वी भाषाओं के जाननेवाले विद्वानों की कमी नहीं; परन्तु इस प्रकार के विद्वानों में बहुत ही थोड़े ऐसे निकलेंगे जिन्हें उस पूर्वी भाषा में, जिसके वे धुरन्धर ज्ञाता कहलाते हैं, बोलने का भी वैसा ही अभ्यास हो जैसा उन्हें उसके लिखने-पढ़ने का है। पूर्वी भाषाओं के पाश्चात्य विद्वानों में मैक्समूलर का नाम बहुत प्रसिद्ध है। वे बड़े भारी संस्कृतज्ञ थे। परन्तु, सुनते हैं, नीलकण्ठ शास्त्री गोरे ने उनसे संस्कृत में भाषण किया तो वे उनकी बात ही न समझ सके। उन पाश्चात्य विद्वानों में, जो अपनी अभिमत पूर्वी भाषा लिख भी सकते हों और बोल भी सकते हों, अध्यापक पामर का आसन बहुत ऊँचा है। वे अँगरेज़ी, फ्रेञ्च, जर्मन, इटालियन, लैटिन, ग्रीक आदि योरप की कितनी ही भाषाओं के अतिरिक्त अरबी, फ़ारसी और उर्दू इन तीन पूर्वी भाषाओं को भी बहुत अच्छी तरह जानते थे। उनमें यह एक ख़ास गुण था कि वे जिन-जिन भाषाओं को जानते थे उनमें वे अपनी मातृभाषा ही की तरह बोल भी सकते थे।

एडवर्ड हेनरी पामर का जन्म सन् १८४० ईसवी की सातवीं अगस्त को, केम्ब्रिज नगर में, हुआ। शैशवकाल ही में उनके माता और पिता दोनों उन्हें अनाथ करके चल बसे।



उनके पिता की बहन ने उनका लालन-पालन किया। जब वे कुछ बड़े हुए तब पाठशाला में पढ़ने के लिए भेजे गये। लड़कपन ही से उन्हें अन्य भाषायें सीखने का शौक़ था। पाठशाला से उन्हें जो समय मिलता उसमें उन्होंने जिप्सी लोगों की भाषा सीख ली। जो पैसे उन्हें जेब-ख़र्च के लिए मिलते उन्हें वे लोगों को दे-देकर रोमेनी भाषा की शिक्षा प्राप्त किया करते। थोड़े ही दिनों में उन्होंने उस जंगली भाषा के शब्दकोष को रट डाला। जिप्सियों के डेरों में जा-जाकर और उनसे उनकी भाषा ही में बात-चीत करके उन्होंने शीघ्र ही वह भाषा बोलने और समझने का इतना अभ्यास कर लिया कि वे असभ्य से असभ्य जिप्सी के भाषण को ख़ूब अच्छी तरह समझ लेने लगे। रोमेनी सीखने का फल यह हुआ कि उन्हें जिप्सी लोगों के आन्तरिक जीवन की बहुत सी बातें मालूम हो गईं और वे लोग भी उनसे निःसङ्कोच मिलने और उनसे बात-चीत करने लगे।

पामर अधिक काल तक पाठशाला में न रह सके। पढ़ना छोड़ते ही उन्होंने लन्दन के एक सौदागर के यहाँ नौकरी कर ली। जो समय मिलता उसमें उन्होंने फ्रेञ्च और इटालियन भाषाओं का अध्ययन आरम्भ कर दिया। यद्यपि उन्हें पढ़ने-लिखने का बड़ा शौक़ था; परन्तु वे कोरे किताबी कीड़े न थे। विदेशी भाषाओं के सीखने में उन्होंने पुस्तकों का विशेष आश्रय न लिया। जिस भाषा को वे सीखते उस भाषा के बोलने-

न हो सके ... कुछ मन भले ही पहुँच जाते। उनमें
इलाज में ... था कि वे अपरिचित आदमियों में,
हो गये, ... ।, चाहे जो भाषा बोलते हों, बड़ी जल्दी
विश्वास किये ... थे। इटालियन और फ्रेंच भाषा के
की कविता, ... थे। नौकरी करने और विदेशी भाषायें
का कोश, फ़ा... लता था उसे वे खेल-तमाशे में बिताते
खलीफ़ा हारू... रखते थे। कभी-कभी नाटक खेलने भी
पुस्तकें उन्होंने ... सके कम न थे। वे उनमें भी मिलते
१८८१ ... पर भी उन्हें फ़ोटोग्राफ़ी, मेस्मेरिज़्म
का मुखिया ... ।का काम सीखने के लिए भी समय
मुसलमान जा...
कारियों के ... भेंट, केम्ब्रिज में, सैयद अब्दुल्ला से हुई।
इस बात से ... प्रान्त के निवासी थे। वे पारसी,
असभ्य जाति ... ह्वाद थे। विलायत में लोगों को वे
ग़ैर नहीं, और ... की शिक्षा दिया करते थे। थोड़े ही
पामर की यो... हुआ पर पामर की बड़ी श्रद्धा हो गई।
सन्ध्या आकर ... ी भाषायें पढ़ने लगे। पामर की बुद्धि
कर दिया था ... वे मिलनसार भी परले सिरे के थे।
निकालने में ... नके गुणों पर मुग्ध हो जाता। लख़-
गवर्नमेंट की ... के नवाब इक़बाल-उद्दौला उनसे भेंट
ईसाइयों के ... नवाब साहब बड़े ही विद्या-रसिक
से न मिल ज... प्रेम से वे इतने ख़ुश हुए कि तीन वर्ष

तक, जब तक वे विलायत में रहे, उन्होंने पामर को अपने ही पास रक्खा और उनकी हर प्रकार से सहायता की। विलायत-प्रवासी अन्य कितने ही मुसलमान विद्वानों ने भी पामर की विलक्षण बुद्धि पर मुग्ध होकर उनकी बहुत कुछ सहायता की। पामर भी दिन और रात, अठारह-अठारह घण्टे, अरबी, फ़ारसी और उर्दू पढ़ा-लिखा करते। रात बीत जाती और प्रातःकाल का प्रकाश सर्वत्र फैल जाता; परन्तु वे अपनी पुस्तक न बन्द करते।

१८६३ में पामर केम्ब्रिज के सेंट जान्स कालेज में भरती हुए। वहाँ की अन्तिम परीक्षा में उत्तीर्ण होने के बाद, १८६७ में, वे अपनी फ़ारसी और उर्दू की योग्यता के कारण, वहाँ के 'फ़ेलो' चुन लिये गये। 'फ़ेलो' नियत होने से उनकी आमदनी कुछ बढ़ गई और उनकी अर्थ-कृच्छ्रता जाती रही।

१८७० में, सनआ (अरब) प्रदेश की नाप-जोख के लिए कुछ लोगों को भेजने की आवश्यकता गवर्नमेंट ने समझी। उस समय एक ऐसे आदमी की भी आवश्यकता हुई जो उस देश की भाषा, अरबी, बहुत अच्छी तरह जानता हो और वहाँ की बातों, नामों, दन्तकथाओं और बीजकों को अच्छी तरह पढ़ और समझ सकता हो। यह काम पामर को मिला। इसे उन्होंने बहुत अच्छी तरह निबाहा। सनआ प्रदेश से लौटने पर, वहाँ की छानबीन पर, उन्होंने दो उपयोगी पुस्तकें प्रकाशित कीं।

१८७१ में पामर अरबी के अध्यापक हो गये। उसी वर्ष उन्होंने अपना विवाह भी किया, परन्तु वे विवाह से सुखी

न हो सके। उनकी स्त्री को क्षयरोग हो गया। स्त्री के इलाज में पामर ने अपना सारा धन फूँक दिया और कर्ज़ भी ले डाले, परन्तु वह न बची। १८७९ में उन्होंने अपना दूसरा विवाह किया। १८७० से लेकर १८८१ तक बहाउद्दीन की कविता, अरबी का व्याकरण, कुरान का अनुवाद, फ़ारसी का कोश, फ़ारसी-अँगरेज़ी-कोश, हाफ़िज़ शीराज़ी की कविता, ख़लीफ़ा हारूनुर्रशीद की जीवनी आदि कोई तीस छोटी-बड़ी पुस्तकें उन्होंने लिखीं।

१८८२ में ईजिप्ट में घोर विप्लव हुआ। विप्लव-कारियों का मुखिया था अरबी पाशा। वह आसपास की असभ्य मुसलमान जातियों को जिहाद के उपदेश द्वारा अंगरेज़-अधिकारियों के विरुद्ध भड़काने लगा। इँगलेंड के राजनीतिज्ञ इस बात से बड़े चिन्तित हुए। उन्हें भय हुआ कि यदि असभ्य जातियां अरबी पाशा से मिल गईं तो स्वेज़ की नहर की ख़ैर नहीं, और साथ ही ईजिप्ट देश से भी हाथ धोना पड़ेगा। पामर की योग्यता की ख्याति देश भर में फैल चुकी थी। मरुभूमि जाकर और वहां निर्दिष्ट काम करके उन्होंने यह भी सिद्ध कर दिया था कि अरबी बोलनेवाली असभ्य जातियों से काम निकालने में उनसे अधिक चतुर देश भर में कोई नहीं। अतएव गवर्नमेंट की नज़र इन्हीं पर पड़ी। काम बड़ा कठिन था। ईसाइयों के विरुद्ध भड़की हुई असभ्य जातियों को अरबी पाशा से न मिल जाने का इन्हें उपदेश देना था। परन्तु पामर

अच्छी तरह जानते थे कि इस काम के लिए कार्य-दक्षता के अतिरिक्त अरबी की बड़ी भारी योग्यता की भी आवश्यकता है और सिवा उनके और किसी से यह काम न हो सकेगा। यह सोचकर वे ईजिप्ट गये। उस देश की और उसके आसपास के प्रदेशों की असभ्य जातियों और उनके सरदारों से मिलकर इस बात की वे चेष्टा करते रहे कि वे अरबी पाशा से न मिलें; पामर ने इस काम में बड़ा साहस प्रकट किया। काफ़िरों के ख़ून की प्यासी असभ्य जातियों को रक्तपात करने से मना करना, या उन्हें रुपये के बल से शत्रु के साथ मिल जाने से रोकने की चेष्टा करना, कम साहस का काम न था। पर इस काम में पामर को बहुत कुछ सफलता हुई। यात्रा समाप्त करके वे स्वेज़ पहुँच गये; परन्तु वे वहाँ अधिक दिन न ठहर सके। उन्हें कुछ आदमियों के साथ इन असभ्य जातियों के प्रदेश में पहले से भी गुरुतर कार्य्य करने के लिए फिर जाना पड़ा। इसी यात्रा में, जब वे अपने साथियों सहित ऊँटों पर सवार एक जङ्गल से होकर जा रहे थे, बहुत से अरबों ने उनके ऊपर आक्रमण किया और उन्हें और उनके साथियों को मार डाला। अपने देश की सेवा करता हुआ यह विद्वान् संसार से, इस प्रकार, निर्दयता-पूर्वक, छीन लिया गया।

लेख यद्यपि बढ़ जायगा तथापि, यहाँ पर, पामर साहब के लिखे हुए उर्दू और फ़ारसी के गद्य-पद्यात्मक लेखों के कुछ नमूने देने का लोभ हम संवरण नहीं कर सकते।

आक्सफ़र्ड-विश्वविद्यालय में डॉ॰ एफ़॰ निकोल साहब, एम॰ ए॰, फ़ारसी भाषा के अध्यापक थे। मालूम नहीं इस समय वे जीवित हैं या नहीं। वे संस्कृत और फ़ारसी के भी विद्वान् थे। पामर साहब से और इनसे मित्रता थी। उन्होंने फ़ारसी के मशहूर शायर जामी और हाफ़िज़ की तारीफ़ में कुछ कविता फ़ारसी में लिखकर पामर साहब को देखने के लिए भेजी। पामर को वह पसन्द न आई। इसे देखकर आपने एक व्यङ्ग्य-पूर्ण कविता लिखी और निकोल साहब को भेज दी। उसका कुछ अंश नीचे दिया जाता है—

तु मीदानी कि क़िस्माँ नकीरम
    कि अज़ नज़्मे ख़ुद ग़म दर नफ़ीरम।
न मीआयद मरा ज़ीं कितावत
    चे मी पुरसी ज़े इनशाये ज़मीरम।
ख़्याल अंगुश्ते हैरत दर दहानम,
    चूँ तहरीर गर मन ख़ामा गीरम।
तमीं क़िरतास मीरेज़द ज़े ग़ुस्सः
    गरश बहरे नविश्तन नामा गीरम।
क़लमदाँ मीनुमायद सीना रा चाक
    कि मन दर जेबे नादाँ जाय गीरम।
ज़नम गर दस्त दर आग़ोशे मज़मूँ
    जवानी के नुमायद अक़्ले पीरम?
फ़क़ीराना सवाले फ़िक्र दारम,
    कि पेशे फ़िक्र कमतर अज़ फ़क़ीरम।

जे मीकावीं जिगर बेहूदा पामर
हमीं बाशद् निगाहाये मर्दरिम ।
पये तहरीर हालाते ज़रूरी
मगर वक्ते ज़रूरत ना गुज़ीरम ।
मनो इलमाओ इमआयम हमा पूच
पज़ीर ईं कौले मन ऐ दिल पज़ीरम ।
मनेह् बर दोशे मन बारे दबीरी
हक़ीरम मन हक़ीरम मन हक़ीरम ।

अपने ऊपर डालकर पामर ने निकोल साहब की फ़ारसी की ऐसी ख़बर ली कि स्वयं निकोल साहब को पामर की कविता और फ़ारसी की योग्यता की प्रशंसा करनी पड़ी। पामर के फ़ारसी-गद्य के नमूने के तौर पर उस पत्र का कुछ भाग उद्धृत किया जाता है जिसे उन्होंने अपने मित्र और शिक्षक सैयद अब्दुल्ला को लिखा था—

बिरादरे आला जनाब, फ़ैज़मआब, वाला ख़िताब, ज़ी क़द्र मज्द बल उला सैयद अब्दुल्ला साहब दाम इनायतहू। अल्लाह अल्लाह। ईंचे तहरीर हैरत अफ़ज़ा अस्त कि अज़ किल्के मरवारीद-सिल्के आं वाला—हमम सरज़द। सबबे अदमे तहरीर मुहब्बत नामेजात न ग़फ़लत न तसाहुल बल्कि हक़ीक़त हाल ईं अस्त कि दर तसनीफ़ किताबे सैरो सैयाहीए अरब व तरतीबे नक़शा जात हर दियार व अम्सार व हवाली बहरो बर्रे कि गुज़रम बर आँहा उफ़तादा व हालाते तवारीखे पास्तानी वक़ायें व कैफ़ियातें औक़ाते सफ़र व हज़र ख़ुद व दीगर

सवानह अज़ हुस्ने खालिकाने मदरसा बराय [illegible] बर [illegible] बेंतो निज़ाम इस्तनमन मश गूलअम। व [illegible] अलग [illegible] हर्फ़ी सास्त अज़ गुलज़ार नसर मुकम्मल शारह। चुनांचे अज़ दो हज़ार अवराक़ तक़नीय कार तमाम शुदन्द, अलावा तसनीफ़ नस्ख़ होने अवराक़े मसव्वदाने जनवा हम शवाज़ बंराज़ व रोज़गार बराय बसर मीबरम। कमाल तहसिवाल ज़रूर अस्त कि शुस्ताअन्द " ـت ... ... " श्राद्धीवाने बेकार दिल-श्राज़ार कि सुखनचीनी तबाहत करें अज़ अचम्बा इरफ़ानें कार बायद कर्द। [illegible] निगारा अज़ [illegible] [illegible] दर कि उस्ताद व मुहक्किल व मुख्त्रा [illegible] बर दिलें [illegible] बत मंज़िलत गुज़ारें क़ुदरत व सलाम [illegible] नौरोज़ [illegible] इनायत बे करदह आदह कि मन [illegible] न [illegible] शबम। बहर कैफ़ तालिक़ अ फ़ र व तज़रस न क़ाबिलें [illegible] चरा कि दिलम अज़ मुहब्बते शुमा मदाम मामूर अस्त। [illegible] अगर नज़दीक व गर दूरस्त।

दिल जुदा दीदा जुदा मुश न पन्दाज़ कुनद।

गरचे मन दूर कुनदम यार व परम मिलवाश थन्त।

थामस साहब फ़ारसी-गद्य और पद्य तो अच्छा लिखते ही थे—उर्दू-गद्य और पद्य लिखने में भी वे सिद्ध-हस्त थे। नीचे उनकी एक उर्दू-कविता उद्धृत की जाती है, जिसे उन्होंने सैयद अब्दुल्ला की एक कविता देखकर उसी के वज़न पर लिखी थी। सैयद अब्दुल्ला ने इस कविता के विषय में कहा था कि इसमें

की कुछ भी आवश्यकता नहीं और योरप भर में कोई ऐसी कविता नहीं लिख सकता——

चूँकि है हम्दे ख़ुदा ताजे सरे सुलतां बयां
चत्र-नज़्मे हैमये शाहँ नहीं हो सायबां,
क्या अजब शम्मये अख़्तर के जवाहिर आस्मां
कहकशां के चौहरी बाज़ार में हों शादमां
सौरतुल ताऊस लाये और कलग़ी ख़ुद हुमा
दे नये गुल को बनी पोशाक पुर ज़र बोस्तां
सानले गुन्चे बनें गुलहाय गुलशन हों गिलास
और गुलाबी होय बस रंगे बहारे गुलसितां।
शाहिदे नाज़े चमन रक़्क़ासा होकर आयें फिर
दे इन्हें अक़्दे सुरैया का वह झुमका आसमां।
सब जवानाने चमन गायें बजायें पेश गुल
नग़्मये बुलबुल को सुन चक्कर में आवे बाग़बां।
गों मन्द्रा निकले बहम मिलकर बजायें साज़ जब
धम दर पर धम दर पर, दर पै तेरे शादियां।
कहकशां तो हो सड़क ज़र्रीने ताबां हों नुजूम
रोशनी में उसपे सैयारों की दौड़ें बग्घियां।
आसमां बन जाय पुल ख़ुरशीद व मह हों लालटेन
और बजाये सिलसिला तारे शुआयी हों अयां।
चर्ख़ बन जायें अमारी बर्क़ ताबां झूल हो,
फ़ील हो अब्रे सियह और राद होवे फ़ीलबां।
धुन में मस्ती की हवा पर जब चले वह झूम झूम
मौजे दरिया उसकी बेड़ी हो क़दम कोहे कलां।
हम-रकाबे अब्लके दौरां हो यह सारा जुलूस
और सवारी में मेरे ममदूह की होवे रवां।

कोश है यह पारचे ख़ुरनार न ख़ुफ़न नार्थफ़ोर्ड
शायद आलमपुर पर कुल्फ़तें असर है दूमी।

पामर का उर्दू में भी अच्छा दख़ल था। वे जिस भाव को चाहते उसे बड़ी ख़ूबी से अदा कर देते। हिदायतहुसैन नाम के एक मौलवी ने उनके ऊपर यह दोषारोपण किया कि उन्होंने दीवाने ख़ुसरो से कुछ कवितायें चुरा ली हैं। पामर ने इस विषय में अपनी सफ़ाई दी और अपने को निर्दोष सिद्ध किया। इसके बाद उन्होंने उक्त मौलवी पर एक व्यंग्यपूर्ण कविता रचकर उसकी ख़ूब ख़बर ली। इस कविता का एक खण्ड नीचे उद्धृत किया जाता है। देखिए—

हाँ ग़ाज़िये सलफ़ा न लगा तेग़े दो दस्ती
शश पारा कर इस मौलवी का पैकरे हस्ती।
हाँ साक़िये दौरां है दमे मिन्दी ओ मस्ती
हुशियार कि दम में न सलन्दी है न पस्ती।
न ख़ुम है न शीशा है न साग़र है न बादा
हर बार फ़िक्रे नशये जुरअत है ज़ियादा।
आ सामने यह गो है यह चौगां है यह मैदां
मैं इल्म हूँ न जहल, मैं आदम हूँ न शैतां।

इसे पढ़कर मौलवी साहब के होश ठिकाने आ गये। ड्यूक आव् ऐडिनबरा के विवाहोत्सव के समय पामर ने एक मसनवी लिखी थी। उसका कुछ अंश सुन लीजिए—

किसकी यह शादी है किसकी यह फ़ौज
जोश मारे है यह किस दरिया की मौज।

तब कहा एक शख़्स ने यूं इस क़दर
हाल से हैगा जहाँ के बेख़बर।
एक बाबू एडिनबरा है जिसका नाम
ख़ाक में लरज़ाँ है जिसके रूम व शाम।

× × × × ×

सुन के यों बेताब दौड़ा कर शामर
निन बड़े इस शमा से पुरनूर घर।

१८७३ में फ़ारिस के तत्कालीनशाह विलायत गये। उनकी इस यात्रा का सविस्तर हाल पामर ने उर्दू में लिखा। वह अवध-अख़बार में निकला। इस लेख के कुछ खण्डों को हम, पामर के उर्दू-गद्य के नमूनों के तौर पर, नीचे उद्धृत करते हैं—

शाह फ़ारस की आमद

अब हर लमहा उम्मेदवारिये दीदार फ़रहत आसारे शहर-यारे कामगार थी। कभी ख़बर उड़ती थी कि अब रेलगाड़ी शाही क़रीब आन पहुँची।

बस कि दूर जाने फ़िगारम चश्मे बेदारम तुई
हर कि पैदा मी शवद अज़ दूर पिन्दारम तुई।

बावजूद गरमी और इन्तिज़ारी के एक तरह की चहल और ज़िन्दादिली सभों के दिलों पर छा रही थी कि एकाएक शिल्लक सलामी क़िले लन्दन से बमुजर्रद छूने नाक़े लन्दन के इस्तादन दग़ने लगीं। अब कोई दक़ीक़ा की बात बाक़ी न रही।

लेहिया शुरू हुए नक़्क़ारा बजने लगे, नक़्क़ारची जैसे कोई फ़ौज का [illegible] हो, यह यह [illegible] हुई कि [illegible] था, जैसे कि [illegible] सुनकर [illegible] ताली हुई। [illegible] इन्तिज़ार आख़िर और शाने इन्तिज़ार का मज़ा—

[illegible] न कुशायद गरक़ व बर्क़ बहार,
करीम सायले ख़ुर्द [illegible] ।

एक हलचल सी हुई। इतना कि गाड़ियों के घोड़े भी टापें मारने लगे और सभों की आँखें नर्गिसवार एक तरफ़ तरतीबवार जम गईं।

इटालियन आपेरा के तमाशे में शाह का आना

तो क्या देखते हैं कि सात सौ परीज़ाद गुलअन्दाम सिमीं-चेहरा ज़ुहरा-जबीं माह-लक़ा व ख़ुरशेद-तलअ़ता रक़्स पैदा हैं। हर एक परी हाथ ज़मुर्रुद और मरवारीद और इल्मास टके लगाये हुए थी। ज़ियाय तमाम में ऐसा मालूम होता था कि हज़ारों माहताब निकले हैं। जो जो राग और स्वांग और करतब और तमाशे दिखलाये कि बादशाह और हमराही हैरान हो गये। इलाही यह ख़्वाब है। ये सचमुच के आदमज़ाद हैं या परियों का अखाड़ा उतरा है। ख़ुसूसन जब परियाँ तार के ज़ोर से मिस्ल तायरों के उड़ती थीं यकायक बादशाह और सब हमराही के ज़बान से "वाह" "वाह" की सदा बलन्द हुई। अगर शिम्मा उसका बयान लिखूँ, तो क़लम बिस्मिल, स्याही रेज़, काग़ज़ सोज़, दम दरकशा का आलम हो।

एडवर्ड हाल में शाह की तारीफ़ में गाये गये अंग्रेज़ी गीतों का पामर द्वारा किया गया फ़ारसी पद्य में अनुवाद

(१)

मुबारक मुबारक सलामत शहा,
मुबारक मुबारक सलामत शहा,
च ईं आमद अज़ मुल्के ईरां ज़मीं,
शहे नामवर बा जलाले मुबीं।
दरख़्शा ख़लायक गिरफ़्ता हुजूम,
सदाये ख़ुशी ख़ास्त हरसू उमूम,
च ख़ुल्क़े कि अज़ दस्ते फ़ैज़ाने शाह,
ज़े अक़्लो ज़े दानिश शवदरु बराह।

(२)

मुबारक मुबारक सलामत शहा।
सदायें रसीदा ज़े चर्खे बरीं,
मुबारक शहा मक़दमे ईं ज़मीं,
जवाबे रसीदा ज़े अफ़्लाक बाज़,
मुबारक सलामत शहे बे नियाज़।
शहे पारिस आमद ज़े शुकरे अयां,
न अज़ क़स्दे तसख़ीरे मुल्कों जहां,
मगर ईं कि हासिल कुनद नामे नेक,
शवद अज़ सखावत सर अंजामे नेक।
गुज़ारद हमीं रोगे ख़ुद दर ग़िलाफ़,
कि सुलहो अमां बेह ज़े ख़िलाफ़े गज़ाफ़,

...कि सालिक् ...,

न मानद् ... ... ।

एक दिन शाह गुप्त रीति से शीशा महल (Crystal palace) देखने गये। उनका सादा वेश देखकर लोगों ने उन्हें शाह का कोई नौकर समझा। पामर ने इस घटना का इस प्रकार वर्णन किया है—

बादशाह से वज़ीरे मुतरजिम, जो फ़ारसी ज़बाँ जानता था, पूछा कि तुमको बादशाह की सरकार में कौन ओहदा है। बादशाह ने फ़रमाया—ख़िदमतगारे ख़ास और मोतमदअलैह। और, चन्द हमराहियों ने कहा कि बादशाह उन पर बहुत एत-माद रखते हैं। मदहा महलका दुख्तराने फ़रंग ने इख़लाक़ गर्म जोशी और लमसे अनामिल फ़ैज़शामिल ज़ाहिर किया। अक्सरों को आला हज़रत ने सरफ़राज़ फ़रमाया।

पामर से शाह की भेंट

फिर हाल इस बे-परोबाल का पूछा और फ़रमाया—"निज़्द वया— कुजा फ़ारसी ओ अरबी याद गिरफ़्ती ?"

पामर—"फ़ारसी अज़ सैयद अब्दुल्ला व अरबी अज़ अरबी दर ईं जा व हम दर अरबरफ़्ता आमोख्तम।"

फ़रमाया कि—"मन शनीदाअम तू शायरे फ़ारसी हस्ती।"

पामर—"ईं हेचमदाँ कम कम मीगोयद, न लायक़े समाअते बन्दगाने आला हज़रत।"

बहुत हँसे। बादहू पूछा—"ईं कारे मुदर्रिस अज़ तरफ़ कीस्त?"

पामर—"फ़िदवी ख़ास मुदर्रिस अज़ तरफ़ मलिके मुअ़ज़्ज़मा इँगलैंड अस्त व ईं ओहदा मुख्तस अज़ तरफ़े मलिके मायानस्त।"

शाह—"चन्द तलामिज़ा दीदारी ?"

पामर—"बिलफ़ैल हमा ब औताने ख़ुद रफ़्ता अन्द कि अय्यामे तातील अन्द।"

आला हज़रत निहायत खन्दै पेशानी से हँस हँसके कलाम फ़रमाते रहे और ज़रा ग़ुरूर और नख़्वत का नाम नहीं। और सूरत से आसारे सुलतानी व रोबे क़हरमानी और ज़हूर मकरमत जिल्ले सुबहानी पदीदार थे। सुबहान अल्लाह! क्या कहना है। हम लोग मुरख़्ख़स हुए तो रोज़-नामचा-निगार ने हमारे नाम और निशान दर्ज नामच किये और दस्तख़त उसमें दर्ज करवाये।

प्रशंसा-पत्र

अब हम थोड़े से प्रशंसा-पत्रों का हिन्दी अनुवाद नीचे देते हैं, जो पामर को लोगों ने उनकी योग्यता पर मुग्ध होकर दिये थे :

सैयद-ग़ुलाम हैदर ख़ाँ साहब का लिखा हुआ प्रशंसा-पत्र

(१)

एडवर्ड हेनरी पामर साहब के लिखे हुए अरबी, फ़ारसी और उर्दू के निबन्धों की भाषा की शुद्धता और सुन्दरता के

पूर्णतया सिद्ध करने के लिए और उनके निबन्धों को लखनऊ के उलमा, अध्यापकों और साहित्य-सेवियों की एक बड़ी सभा का दि० २ जून १८६८ को, उनके सामने पेश किया । इन सज्जनों की सहायता से उन निबन्धों की भाषा की शुद्धता और सरलता पर विचार हुआ । अब मैं इस बात की तसदीक़ करता हूँ कि इन निबन्धों की भाषा बहुत ही शुद्ध और सुन्दर है और उनकी भाषा में और उस भाषा में जो इस देशवाले काम में लाते हैं—भाव दरसाने, उपमा देने, या शब्दों का प्रयोग करने में कोई अन्तर नहीं है । मैं इस बात को भी तसदीक़ करता हूँ कि पामर साहब को पूर्वोक्त दोनों भाषाओं में पूर्ण पाण्डित्य प्राप्त है ।

(१) सैयद ग़ुलाम हैदर,

इब्न मुंशी सैयद मुहम्मद ख़ाँ बहादुर ।

(२) नवलकिशोर,

स्वत्वाधिकारी और सम्पादक "अवध-अख़बार"

(३) सैयद अली इब्न सैयद अहमद साहब,

लखनऊ के शाही विश्व-विद्यालय के अध्यापक

(२)

केम्ब्रिज के सेंट जान्स कालेज के अध्यापक मिस्टर ई० एच० पामर मेरे मित्र हैं । कई साल तक उन्होंने मुझसे पढ़ा

भी है। उनकी अध्ययनशीलता और विलक्षण बुद्धि पर मुझे सदा आश्चर्य और हर्ष होता रहा है। अब मुझे इस बात को प्रकट करने में बड़ी ख़ुशी होती है कि वे हिन्दुस्तानी, फ़ारसी और अरबी भाषाओं के अच्छे पण्डित हो गये हैं और इन तीनों भाषाओं को बड़ी ही शुद्धता और सरलता-पूर्वक लिख और बोल सकते हैं।

२९ जून १८६६।

सैयद अब्दुल्ला,
लन्दन-यूनीवरसिटी कालेज के हिन्दुस्तानी भाषा के अध्यापक और पञ्जाब के बोर्ड आव् एडमिनिस्ट्रेशन के भूतपूर्व अनुवादक और दुभाषिये।

(२)

मैं ख़ुशी से सेंट जान्स कालेज के एडवर्ड हेनरी पामर साहब की अरबी, फ़ारसी और हिन्दुस्तानी भाषा की योग्यता की तसदीक़ करता हूँ। मुझे इस बात तक के कहने में सङ्कोच नहीं कि मुझे अपने जीवन भर में किसी ऐसे योरप-निवासी से भेंट नहीं हुई जो भाषाओं का इतना विज्ञ हो जितने कि पामर साहब हैं।

ता० २७ जून १८६६।

मीर औलाद अली,
ट्रिनिटी कालेज, डब्लिन के पूर्वी भाषाओं के अध्यापक।

नीचे वह खत उद्धृत किया जाता है, जिसे पामर को एक मुल्की साहब नवाब सिराजुद्दौला बहादुर ने अवध-अखबार को भेजा था—

साहबे मन मुरब्बी मुशफ़िक़ी ज़मदा फ़ख़्रे हिन्द अज़ीज़े दिलहाय अहले इंगलैंड सैयद अब्दुल्ला साहब बहादुर प्रोफ़ेसर ने मुक़ामे दिलकुशा लन्दन से अपने खत में यह कुन्दे मुकर्रर-खन में ग़ज़ल फ़ाज़िल अजल हकीम व जहांदीदा नहा आशना ख़ुल्के फ़ख़्रे इंगलिस्तान मिस्टर एडवर्ड पामर साहब बहादुर को मेरे पास इस ग़र्ज़ से भेजा है कि उनकी फ़ारसी ग़ज़ल से मैं भी लुत्फ़ उठाऊँ और उनके हाथ का लिखा देखकर श्रे-दाय सवादे खत से चश्मे जां को मुनौवर करूं और बादह आमे उलूम-अखबार अहले-हिन्द के वास्ते दर्ज अखबार भेजें, ताकि अहले-हिन्द जानें कि नाज़ परवरदा विलायतें दूर दस्त इंगलैंड के बित्तवा ऐसे लायक़ फ़ायक़ तब्बाअ मेहनती अमीर शायक़ होते हैं कि घर बैठे उलूम शरक़ी में, जिनमें अक्सर अहले मशरिक़ ला आशी व आनिस्त हैं, वे कमाल ख़ुदादाद हासिल करते हैं। सैयद साहब ने अपने खत में लिखा है कि ये साहब जवासाल जवांबख्त उलूम-दान निहायतें योरप के सिवा जैसे उलूमे मशरिक़ में दस्तगाह रखते हैं वैसे ही उनकी खत व किताबत और तहरीर व तक़रीर में यदेतूला। और तुरफ़ा यह कि मर ज़ूक़िये नबा से शेर भी फ़रमाते हैं। चुनांचे

ग़ज़लें सादी पर एक ग़ज़ल जो भेजी है कैसी लुत्फ़-अंगेज़ बल्कि हैरत-अंगेज़ है। इस क़ाबलियत के सिले में साहबे मौसूफ़ को पन्द्रह सौ महीना का एक आला ओहदा बम्बई में मिलता है मगर अभी तअम्मुल है। ज़हे बख़्ते हिन्द, जहाँ ऐसे लायक़ और आलिम कारफ़र्मा हों। साहबे ममदूह से मेरा भी ग़ायबाना इत्तहाद बहुत बरसों से है। मगर उनका शौक़े इल्म व ज़बाँदानी रोज़अफ़ज़ूँ ही सुनता हूँ। चुनांचे अब अरबी इल्म और ज़बाँ में भी कमाल हासिल कर लिया और ख़ुद अरब जाकर नाम कर आये और अब उसकी तारीख़ लिख चुके हैं जिसका ज़िक्रे ख़ैर भी उनके ख़त से वाज़ह है। ख़ुदा उनके इल्म और उम्र में ख़ैर व बरकत दे। ज़्यादा ज़्यादा वस्सलाम। मक़ाम दारुल मन्सूर, जोधपूर। मुहम्मद मरदान अली ख़ाँ ग़फ़रल्लह—दिसम्बर सन् १८७१ ईसवी।

[जनवरी १६१३

१०—बुकर टी० वाशिंगटन

मराठी-साहित्य में, हाल ही में, एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। बम्बई के "मासिक मनोरञ्जन" के नाम से हिन्दी जाननेवाले अपरिचित नहीं हैं। उस पत्र के उत्साही सम्पादक, श्रीयुत काशीनाथ रघुनाथ मित्र, ने अपनी—"मनोरञ्जक ग्रन्थ-प्रसारक मण्डली" के कार्यालय से लगभग पौन सौ पुस्तकें प्रकाशित की हैं। जिस पुस्तक का और उसके आधारभूत जिस विषय का—अर्थात् बुकर टी० वाशिंगटन के चरित्र का—परिचय इस लेख में देने का सङ्कल्प किया गया है उसका नाम है "आत्मोद्धार"। यदि उक्त मण्डली द्वारा इस ग्रन्थ के अतिरिक्त और कोई भी पुस्तक प्रकाशित न होती, तो भी देश-हित की दृष्टि से उसका उद्देश सफल हो जाता। सचमुच "आत्मोद्धार" ऐसा ही प्रभावशाली ग्रन्थ है। जो लोग उसको अपनावेंगे और उसमें लिखी हुई बातों पर कुछ ध्यान देंगे वे निस्सन्देह अपना उद्धार करने में समर्थ हो जायँगे। इस ग्रन्थ के लेखक श्रीयुत नागेश वासुदेव गुणाजी, बी० ए०, एल्-एल० बी० का नाम मराठी-साहित्य-सेवकों में बहुत प्रसिद्ध है। जब आपने बुकर टी० वाशिंगटन और उनके परोपकारी कार्यों का कुछ वर्णन समाचार-पत्रों में पढ़ा तब आपको यह इच्छा हुई कि अमेरिका जाकर उस महात्मा

का दर्शन-लाभ करें और उसकी संस्थाओं में कुछ दिन रहकर अध्ययन करें। परन्तु द्रव्य के अभाव से आपकी यह सदिच्छा सफल न हुई। तब आपने यह निश्चय किया कि यदि शरीर द्वारा वहां नहीं जा सकते तो न सही, अन्तःकरण ही से बहुत सा काम किया जा सकता है। इसके बाद आपने पत्र-व्यवहार करके बुकर टी० वाशिंगटन के परोपकारी कार्यों के विषय में जानने योग्य सब सामग्री एकत्र की। वाशिंगटन के जीवनचरित की कुछ बातें "आउट लुक" नामक मासिक-पत्र में प्रकाशित हुई थीं। उन्हें पढ़कर उनके अनेक मित्र उनसे अपना आत्मचरित लिखाने का आग्रह करने लगे थे। उनकी पोर्शिया नामक लड़की ने भी कई बार इस विषय में उनसे आग्रह किया। तब उन्होंने "Up from Slavery" नामक पुस्तक द्वारा अपना आत्मचरित प्रकाशित किया। "आत्मोद्धार" इसी पुस्तक का मराठी-रूपान्तर है। इस मराठी पुस्तक में, ग्रन्थकार के एक मित्र की लिखी हुई २४ पृष्ठों की एक भूमिका है। उसमें "आत्मोद्धार" के अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों की मार्मिक चर्चा की गई है। मराठी-ग्रन्थकार श्रीयुत गुणाजी का साहित्य-प्रेम तो प्रशंसनीय है ही; परन्तु इस ग्रन्थ की सामग्री एकत्र करने में आपने अपने दृढ़ निश्चय, धैर्य, यत्न आदि गुणों का भी परिचय दे दिया है। आपने मराठी-भाषा की सेवा करने में जो उत्साह प्रकट किया है वह हम लोगों के लिए अनुकरणीय है। यह ग्रन्थ पढ़ने से यह बात अच्छी

तरह मालूम हो जाता है कि जब मनुष्य अपने उद्धार के लिए स्वयं यत्न करने लगता है तब परमेश्वर भी उसकी सहायता करता है। आत्मोद्धार के लिए दृढ़ विश्वास और स्वावलम्बन ही की आवश्यकता है। बुकर टी० वाशिंगटन का जीवनचरित इस बात का प्रत्यक्ष उदाहरण है कि दृढ़ निश्चय और प्रयत्न से हबशी (नीग्रो) जाति का एक दास कितने ऊँचे पद पर पहुंच सकता है और परोपकार के कितने बड़े बड़े काम कर सकता है। आत्मावलम्बन की तात्त्विक शिक्षा देनेवाली सैकड़ों पुस्तकों से जो लाभ न होगा वह 'आत्मोद्धार' की अद्भुत मूर्त्ति, बुकर टी० वाशिंगटन, के आत्मचरित से हो सकता है।

इस ग्रन्थ के विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। हाँ, इस बात की सूचना कर देना हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं कि यदि इस पुस्तक का अनुवाद हिन्दी में किया जाय तो उससे देश का बहुत हित हो। अब बुकर टी० वाशिंगटन का जीवन-चरित सुनिए।

दास्य-विमोचन

अफ्रिका के मूल निवासियों की नीग्रो (हबशी) नामक एक जाति है। सत्रहवीं सदी में इस जाति के लोगों को गुलाम बनाकर अमेरिका में बेचने का क्रम प्रारम्भ हुआ। यह क्रम लगभग दो सदियों तक जारी रहा। इतने समय तक दासत्व में रहने के कारण उन लोगों की कितनी अवनति हुई, उन्हें कितना भयङ्कर कष्ट उठाना पड़ा और उनकी स्थिति

कितनी निकृष्ट हो गई, ये सब बातें इतिहास-ग्रन्थों से जानी जा सकती हैं। कुमारी एच० बी० स्टो ने अपने एक ग्रन्थ में लिखा है—इन ग़ुलामों को दिन भर धूप में काम करना पड़ता था। यदि काम में कुछ सुस्ती या भूल हो जाय तो ओवर-सीयर उन्हें कोड़ों से मारता था। यहाँ तक कि उनके शरीर से लोहू बहने लगता था। रात को उन्हें पेट भर खाने को भी न मिलता था। एक छोटी सी झोपड़ी में जानवरों की तरह वे रात भर बन्द कर दिये जाते थे। केवल धन के लोभ से पति और पत्नी, भाई और बहन, माता और पुत्र में वियोग कर दिया जाता था। यदि कोई ग़ुलाम अत्यन्त दुःखित होकर भाग जाते तो उनके पीछे शिकारी कुत्तों के झुण्ड दौड़ा दिये जाते थे। इतना अन्याय होने पर भी, आश्चर्य यह है कि पादरी लोग दासत्व के इस घृणित रिवाज का समर्थन, बाइबिल के आधार पर, किया करते थे! यद्यपि सन् १७८३ ईसवी में अमेरिका में स्वाधीनता प्रस्थापित हो गई थी और यह तत्त्व मान्य हो गया था कि "ईश्वर की दृष्टि से सब मनुष्य—काले और गोरे—समान और स्वतन्त्र हैं" तथापि अमेरिकन लोगों ने लगभग १०० वर्ष तक नीग्रो जाति के काले मनुष्यों की स्वाधीनता कबूल न की! वे लोग नीग्रो जाति को 'मनुष्य' के बदले अपना 'माल' (Property) समझते थे! परन्तु कुछ विचारवान् और सहृदय महात्माओं के आन्दोलन करने पर यह मत धीरे-धीरे बदलने लगा। उत्तर-अमेरिका की रियासतों ने अपने ग़ुलामों को छोड़ दिया। परन्तु दक्षिण-

अमेरिका की रियासतों ने गुलामों को स्वतन्त्र करना स्वीकार न किया। तब सन् १८६१ में उन रियासतों में परस्पर भयानक युद्ध आरम्भ हो गया। यह युद्ध चार-पाँच साल तक जारी रहा। उस समय महात्मा लिंकन अमेरिका की स्वतन्त्र और संयुक्त रियासतों के प्रेसिडेंट (अध्यक्ष-राजा) थे। आपका दृढ़ विश्वास था कि दासत्व से बढ़कर और कोई पाप नहीं है*। इसलिए आपने सन् १८६२ के सितम्बर महीने में यह इश्तहार जारी किया कि "सन् १८६३ के आरम्भ से अमेरिका में दासत्व की रीति बन्द कर दी जायगी।" उधर आपने युद्ध का भी ऐसा उत्तम प्रबन्ध किया कि दक्षिण-अमेरिका के सारे बागी लोग हार गये। सन् १८६५ ईसवी में पूर्वोक्त रियासतों में सन्धि हो गई। जनवरी १, सन् १८६३ ईसवी के "दास्य-विमोचन" के इश्तहार से नीग्रो जाति के तीस-चालीस लाख आदमियों को स्वाधीनता मिल गई। ये लोग महात्मा लिंकन को ईश्वर-तुल्य समझकर उसका यश गाने लगे।

बाल्यावस्था और विद्याभ्यास

बुकर टी० वाशिंगटन का जन्म, सन् १८५८-५९ में, एक अत्यन्त गरीब दास-कुल में हुआ। उनके बालपन की दुःख-दायक, उद्वेगकारक और निराशाजनक दशा की कुछ कल्पना ऊपर लिखी हुई बातों से की जा सकती है। जिस समय अमेरिका

* Cf. "If slavery is not wrong, nothing is wrong!"

के सब दास मुक्त किये गये उस समय उसकी अवस्था तीन-चार वर्ष की थी। स्वतन्त्र होने पर उसके माता-पिता अपने बच्चों को लेकर कुछ दूर माल्डन नामक गाँव को, नमक की खान में मज़दूरी करने के लिए, चले गये। वहाँ बुकर को भी दिन भर खान के भीतर नमक की भट्टी में काम करना पड़ता था। यद्यपि बालक बुकर के मन में लिखना-पढ़ना सीखने की बहुत इच्छा थी, तथापि उसके पिता का ध्यान केवल कुटुम्ब के निर्वाह के लिए पैसा कमाने ही की ओर था। ऐसी अवस्था में शिक्षा-प्राप्ति की अनुकूलता नहीं हो सकती। इतने में उस गाँव के समीप ही नीग्रो जाति की शिक्षा के लिए एक छोटी सी पाठशाला खोली गई। जब बुकर ने अपनी जाति के सब बालकों को स्कूल में जाते देखा तब विद्यार्जन के लिए उसकी स्वाभाविक इच्छा और भी प्रबल हो उठी। पिता के विरोध के कारण काम छोड़कर वह पाठशाला में न जा सकता था। इसलिए मज़दूरी करने के बाद जब कुछ समय तक छुट्टी मिलती तब वह विद्याभ्यास किया करता था। इसके बाद वह रात को पाठशाला में पढ़ने लगा। इस काम के लिए उसे कभी-कभी तीन-तीन चार-चार मील पैदल चलना पड़ा। उसके आत्मचरित में लिखा है—"यद्यपि मुझे कई बार उदास और निराश होना पड़ा, तथापि मैंने शिक्षा-प्राप्ति का निश्चय कर लिया था।" इस निश्चय के अनुसार, सन् १८७२ ईसवी में, वह अपने गाँव से सुदूरवर्ती हैम्पटन नगर के नार्मल

स्कूल में पढ़ने लगा। उस समय उसकी अवस्था पन्द्रह-सोलह वर्ष की थी। उसको यह भी मालूम न था कि हैम्पटन कितनी दूर है। वहाँ तक जाने के लिए उसके पास पैसा भी न था। घर से निकलने पर उसे मालूम हुआ कि हैम्पटन ५०० मील दूर है। मार्ग में उसे बहुत कष्ट सहना पड़ा। जब वह किसी बड़े शहर में पहुँचता तब मज़दूरी करके कुछ जमा करता और आगे चलता। दो-दो दिनों तक उसको भूखा रह जाना पड़ा। रात को सड़क पर पटरी के किनारे वह सो रहता था। इस प्रकार अनेक दुःख और क्लेश भोगने पर वह हैम्पटन पहुँचा। वहाँ मुख्य अध्यापिका ने सबसे पहले उसे एक कमरे का कूड़ा झाड़ डालने को कहा और इस बात की परीक्षा की कि वह शारीरिक मिहनत से घृणा तो नहीं करता। वह उस प्रवेश-परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ और वहीं विद्याभ्यास करने लगा।

हैम्पटन स्कूल के अध्यक्ष (प्रिंसपल) जनरल आर्मस्ट्रांग बड़े परोपकारी पुरुष थे। उनके प्रयत्न से यह स्कूल अमेरिका में बहुत प्रसिद्ध हो गया है। इन्हीं के पास रहने के कारण चार वर्ष में बुकर टी० वाशिंगटन ग्रेजुएट हो गया। इस स्कूल में वाशिंगटन ने जिन बातों की शिक्षा पाई उनका सारांश यह है—

१—"पुस्तकों के द्वारा प्राप्त होनेवाली शिक्षा से वह शिक्षा अधिक उपयोगी और मूल्यवान् है जो सत्-पुरुषों के समागम से मिलती है।"

२—"शिक्षा का अन्तिम हेतु परोपकार ही है। मनुष्य की उन्नति केवल मानसिक शिक्षा से नहीं होती। शारीरिक श्रम की भी बहुत आवश्यकता है। श्रम से न डरने ही से आत्म-विश्वास और स्वाधीनता प्राप्त होती है। जो लोग दूसरों की उन्नति के लिए यत्न करते हैं—जो लोग दूसरों को सुखी करने में अपना समय व्यतीत करते हैं—वही सुखी और भाग्यवान् हैं।"

३—"शिक्षा की सफलता के लिए ज्ञानेन्द्रिय, अन्तःकरण और कर्मेन्द्रिय (Head, Heart and Hand) की एकता होना चाहिए। जिस शिक्षा में श्रम के विषय में घृणा उत्पन्न होती है उससे कोई लाभ नहीं होता।"

वाशिंगटन स्कूल में पढ़ने और बोर्डिंग में रहने का खर्च न दे सकता था। इसलिए वह स्कूल में द्वारपाल की नौकरी करके और छुट्टी के दिनों में शहर में मज़दूरी या नौकरी करके द्रव्यार्जन करता था। इस प्रकार स्वयं श्रम करके अपने आत्मविश्वास के बल पर उसने हैम्पटन-स्कूल का विद्याभ्यास-क्रम पूरा किया। उसका नाम पदवी-दान के समय माननीय विद्यार्थियों (Honour-roll) में दर्ज किया गया।

शिक्षक का काम

ग्रेजुएट होने के बाद वाशिंगटन अपने निवास-स्थान, माल्डन, को सन् १८७६ में लौट आया और वहाँ एक सीधा-स्कूल में शिक्षक का काम करने लगा। स्कूल में विद्यार्थियों की संख्या इतनी बढ़ गई कि उसको रात की पाठशाला खोलनी पड़ी। वहाँ

से उसने कई विद्यार्थियों को हैम्पटन की शाला में भेजने का प्रबन्ध किया। [illegible] शिक्षा के विषय में अनेक भ्रम-मूलक [illegible] प्रचलित थीं। [illegible] में [illegible], [illegible], गणित, भूगोल, आदि की कुछ बातें [illegible] मिलता है। माल्डन में दो वर्ष तक शिक्षक का काम करने के बाद, शिक्षा के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के लिए, वाशिंगटन कोलंबिया प्रान्त के वाशिंगटन शहर में आठ महीने रहा। वहाँ उसको वहाँ के लोगों की सामाजिक दशा के सम्बन्ध में बहुत सी बातें मालूम हुईं। वहाँ के लोग नाममात्र की शिक्षा प्राप्त करके अपने को सुखी और श्रीमान् सूचित करने के लिए यत्न कर रहे थे। इसलिए उन्हें अपनी आमदनी की अपेक्षा व्यय अधिक करना पड़ता था। फल यह होता था कि वे ऋणी हो जाया करते थे। शहरों में रहनेवाले लिखे-पढ़े लोग (स्त्री और पुरुष दोनों) शारीरिक श्रम करना नीच काम समझते थे। प्रायः अधिकांश लोग कृत्रिम सुख में मोहित होकर राजनैतिक हलचलों में शामिल होना ही अपना कर्तव्य समझते थे। सारांश यह कि उन लोगों ने अपने जीवन की अनेक आवश्यकतायें कृत्रिम रीति से बढ़ा ली थीं, परन्तु उनमें अपनी सब आवश्यकताओं की पूर्ति करने की योग्यता न थी। नगर-निवासियों का मोहक जीवन-क्रम देखकर वाशिंगटन के भी मन में एक राजनैतिक हलचल में शामिल हो जाने की इच्छा उत्पन्न हुई। परन्तु वह अपने जीवन के पवित्र उद्देश को भूल

नहीं गया था। कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय और अन्तःकरण (Hand, Head and Heart) की शिक्षा से अपनी जाति की उन्नति करना ही उसका प्रधान उद्देश था। अतएव उसने इसी उद्देश की सफलता के लिए यत्न करते रहने का दृढ़ निश्चय कर लिया। इसके बाद, जिस हैम्पटन स्कूल में उसने विद्याभ्यास किया था वहीं उसने दो वर्ष तक शिक्षक का काम किया और सुप्रसिद्ध शिक्षक हो गया।

जाति-सेवा का आरम्भ

सन् १८८१ ईसवी में, अर्थात् तेईस-चौबीस वर्ष की उम्र में, बुकर टी० वाशिंगटन हैम्पटन में शिक्षक का काम कर रहा था। इसी समय उसे स्वतन्त्र रीति से जाति-सेवा और परोपकार करने का—प्राप्त की हुई शिक्षा को सफल करने का—अपने जीवन को सार्थक करने का—मौक़ा मिला। दक्षिणी अमेरिका की आलबामा रियासत के टस्कीजी नामक छोटे से गाँव के कुछ निवासियों ने जनरल आर्मस्ट्रांग को एक चिट्ठी भेजी और यह लिखा कि हम लोग अपने गाँव में काले आदमियों की शिक्षा के लिए एक माडल स्कूल (आदर्श पाठशाला) खोलना चाहते हैं। आपके पास कोई अच्छा शिक्षक हो तो भेज दीजिए। जनरल आर्मस्ट्रांग ने मिस्टर वाशिंगटन को वहाँ भेज दिया। इस विषय में वाशिंगटन ने लिखा है कि—"टस्कीजी जाने के पहले मैं यह सोचता था कि वहाँ इमारत और शिक्षा का सब सामान तैयार होगा; परन्तु

वहाँ जाने पर [illegible] मैंने यह देखा कि न इमारत है और न कोई सामान है, [illegible] मैं थोड़ी देर के लिए निराश हो गया। हाँ, इसके बाद [illegible] कि सैकड़ों इमारतों और सामान से अधिक मूल्यवान अनेक मनुष्य शिक्षा के लिए आतुर और उत्सुक हुए देख पड़े!" महीने दो महीने तक वाशिंगटन ने उस प्रदेश के निवासियों की सामाजिक और आर्थिक दशा को अच्छी तरह जाँच की और जुलाई की चौथी तारीख को गिरजाघर के पास ही एक टूटी सी झोपड़ी में पाठशाला खोल दी। इस पाठशाला में वाशिंगटन ही अकेले शिक्षक थे। लड़के और लड़कियाँ मिलकर सब ३० विद्यार्थी छात्र थे। वे सब व्याकरण के नियम और गणित के सिद्धान्त मुखाग्र जानते थे; परन्तु उनका उपयोग करना न जानते थे। वे शारीरिक श्रम न करना चाहते थे। वे यह समझते थे कि मिहनत करना नीच काम है। ऐसी अवस्था में, पहले पहल वाशिंगटन को अपने नूतन तत्त्वों के अनुसार शिक्षा देने में बहुत कठिनाइयाँ हुईं। उन्होंने आलबामा रियासत की सामाजिक और आर्थिक दशा का विचार करके यह निश्चय किया कि इस प्रान्त के निवासियों को कृषि-सम्बन्धिनी शिक्षा दी जानी चाहिए और एक या दो ऐसे भी व्यवसायों की शिक्षा देनी चाहिए जिनके द्वारा लोग अपना उदर-निर्वाह अच्छी तरह कर सकें। उन्होंने ऐसी शिक्षा देने का निश्चय कर लिया जिससे विद्यार्थियों के हृदय में शारीरिक श्रम, व्यव-

साथ, मितव्यय और सुव्यवस्था के विषय में प्रेम उत्पन्न हो जाय; उनकी बुद्धि, नीति और धर्म में सुधार हो जाय; और जब वे पाठशाला से निकलें तब अपने देश में स्वतन्त्र रीति से उद्यम करके सुख-प्राप्ति कर सकें तथा उत्तम नागरिक (Citizen) बन सकें। इन तत्त्वों के अनुसार शिक्षा देने के लिए वाशिंगटन के पास एक भी साधन की अनुकूलता न थी। ज़मीन का एक छोटा सा टुकड़ा तक उनके पास न था। इतने में उन्हें मालूम हुआ कि टस्कंजी गाँव के पास एक खेत बिकाऊ है। इस पर हैम्पटन के कोपाध्यक्ष से ७५० रुपया क़र्ज़ लेकर उन्होंने वह ज़मीन मोल ले ली। उस खेत में दो-तीन झोंपड़ियाँ थीं। उन्हीं में वे अपने विद्यार्थियों को पढ़ाने लगे। पहले पहल विद्यार्थी किसी प्रकार का शारीरिक काम न करना चाहते थे; परन्तु जब उन लोगों ने अपने हितचिन्तक शिक्षक, मिस्टर वाशिंगटन, को हाथ में कुदाली-फावड़ा लेकर काम करते देखा तब वे भी बड़े उत्साह से काम करने लगे।

धन की आवश्यकता

ज़मीन मोल लेने के बाद इमारत बनाने के लिए धन की आवश्यकता हुई। धन के बिना कोई भी उपयोगी काम नहीं हो सकता। तब कुमारी डेविडसन (टस्कंजी पाठशाला की एक अध्यापिका) और मिस्टर वाशिंगटन ने गाँव-गाँव भ्रमण करके द्रव्य इकट्ठा किया। यद्यपि इस काम में वाशिंगटन को अनेक निद्रा-रहित रात्रियाँ व्यतीत करनी पड़ीं, तथापि अन्त में

परमेश्वर की कृपा से उसके सब काम सफल हुए। धन इकट्ठा करने के विषय में मिस्टर वाशिंगटन के नीचे लिखे अनुभव-सिद्ध, नियम बड़े काम के हैं—

(१) तुम अपने कार्य के विषय में अनेक व्यक्तियों और संस्थाओं को अपना सच्चा हाल सुनाओ। यह हाल सुनाने में तुम अपना गौरव समझो। तुम्हें अपने कार्य के विषय में जो कुछ कहना हो संक्षेप में और साफ़-साफ़ कहो।

(२) परिणाम या फल के विषय में निश्चिन्त रहो।

(३) इस सिद्धान्त पर विश्वास रक्खो कि संस्था का अन्तरङ्ग जितना ही स्वच्छ, पवित्र और उपयोगी होगा उतना ही अधिक उसको लोकाश्रय भी मिलेगा।

(४) श्रीमान् और गरीब दोनों से सहायता मांगो। सच्ची सहानुभूति प्रकट करनेवाले सैकड़ों दाताओं के छोटे-छोटे दान पर ही परोपकार के बड़े-बड़े कार्य होते हैं।

(५) चन्दा इकट्ठा करते समय दाताओं की सहानुभूति, सहायता और उपदेश प्राप्त करने का यत्न करो।

इस प्रकार यत्न करने पर, टस्केजी-संस्था की उन्नति के लिए, अनेक श्रीमान् तथा साधारण लोगों ने गुप्त तथा प्रकट रीति से वाशिंगटन की सहायता की।

संस्था की उन्नति

आत्मावलम्बन और परिश्रम से धीरे-धीरे टस्केजी-संस्था की उन्नति होने लगी। सन् १८८१ में वाशिंगटन के पास

अपनी संस्था के लिए थोड़ी सी ज़मीन, तीन इमारतें, एक शिक्षक और तीस विद्यार्थी थे। अब वहाँ १०६ इमारतें, २३५० एकड़ ज़मीन और १५०० जानवर हैं। कृषि के उपयोगी यन्त्रों और अन्य सामान की क़ीमत ३८, ८५, ६३६ रुपया है। वार्षिक आमदनी ६,००,००० रुपया है और कोष में ६,४५,००० रुपया जमा है। प्रतिवर्ष २,४०,००० रुपये ख़र्च होते हैं। यह रक़म घर-घर भिक्षा माँगकर इकट्ठा की जाती है। इस समय संस्था की कुल जायदाद एक करोड़ से अधिक की है, जिसका प्रबन्ध पञ्चों द्वारा किया जाता है। शिक्षकों की संख्या १८० है। १६४५ विद्यार्थी (१०६७ लड़के और ५७८ लड़कियाँ) दर्ज रजिस्टर हैं। १००० एकड़ ज़मीन में विद्यार्थियों के श्रम से खेती होती है। मानसिक शिक्षा के साथ-साथ भिन्न-भिन्न चालीस व्यवसायों की शिक्षा दी जाती है। इस संस्था में शिक्षा पाकर लगभग ३००० आदमी दक्षिणी अमेरिका के भिन्न-भिन्न स्थानों में स्वतन्त्र रीति से काम कर रहे हैं। ये लोग स्वयं अपने प्रयत्न और उदाहरण से अपनी जाति के हज़ारों लोगों को आधिभौतिक और आध्यात्मिक, धर्म और नीति-विषयक, शिक्षा दे रहे हैं। मिस्टर वाशिंगटन ने लिखा है कि—"संस्था की उपयोगिता उन लोगों पर अवलम्बित है जो यहाँ शिक्षा पाकर स्वतन्त्र रीति से समाज में रहने लगते हैं।" इस नियम के अनुसार यह कहा जा सकता है कि वाशिंगटन की संस्था ने सफलता प्राप्त

सकती है। अमेरिका के भिन्न-भिन्न स्थानों में, इस संस्था में शिक्षा पाये हुए लोगों की मांग इतनी बढ़ गई है कि लोगों की मांग भी पूरी नहीं की जा सकती। अनेक विद्यार्थियों को स्थान और द्रव्य के अभाव से लौट जाना पड़ता है।

सफलता का रहस्य

वाशिंगटन को टस्केजी-संस्था का जीव या प्राण समझना चाहिए। आप ही के कारण इस संस्था ने सफलता प्राप्त की है। आप ही इस संस्था के प्रिंसिपल हैं। आप पाठशाला में शिक्षक का काम भी करते हैं और संस्था की उन्नति के लिए गांव-गांव, शहर-शहर, भ्रमण करके धन भी इकट्ठा करते हैं। आपने इस संस्था का प्रबन्ध इतना उत्तम कर दिया है कि आपकी अनुपस्थिति में भी सब काम नियमपूर्वक होते रहते हैं और इन सब कामों की रिपोर्ट उन्हें मिलती रहती है। उन्हें अपनी स्त्री से बहुत सहायता मिलती है। वे यह जानने के लिए सदा उत्सुक रहते हैं कि अपनी संस्था के विषय में कौन क्या कहता है। इससे संस्था के दोष मालूम हो जाते हैं और सुधार करने का मौका मिल जाता है। आपकी सफलता का रहस्य आपके आन्तरिक उद्गारों से विदित हो सकता है। आप कहते हैं—

१—ईश्वर के राज्य में किसी व्यक्ति या जाति की सफलता की एक ही कसौटी है। वह यह कि सत्कार्य करने की प्रेरणा से प्रेरित होकर प्रयत्न करना चाहिए।

२—जिस स्थान में हम रहें उस स्थान के निवासियों की शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आर्थिक उन्नति करने का यत्न करना ही सबसे बड़ी बात है।

३—सत्कार्य-प्रेरणा के अनुसार प्रयत्न करते समय किसी व्यक्ति, समाज या जाति की निन्दा, द्वेष और मत्सर न करना चाहिए। जो काम भ्रातृभाव, बन्धु-प्रेम और आत्मीयता से किया जाता है वही सफल और सर्वोपयोगी होता है।

४—किसी कार्य का यत्न करने में आत्मविश्वास और स्वाधीनभाव को न भूल जाना चाहिए। यदि एक या दो प्रयत्न निष्फल हो जायँ तो भी हताश न होना चाहिए। अपनी भूलों की ओर ध्यान देकर विचारपूर्वक बार-बार यत्न करते रहना चाहिए। अन्त में ईश्वर की कृपा से अवश्य ही सफलता होती है।

गुणों का उचित आदर

वाशिंगटन का यह विश्वास है कि योग्यता अथवा श्रेष्ठता किसी भी वर्ण, रङ्ग और जाति के मनुष्य में हो, वह छिप नहीं सकती। अन्त में वह मनुष्य अवश्य ही विजयी होता है। गुणों की परीक्षा और चाह हुए बिना नहीं रहती। यह सर्वथा सच है—"गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः।" वाशिंगटन ने जो जातिसेवा-रूप परोपकार किया है वह यह समझकर किया है कि हमारा कार्य छोटा ही

पड़ों न हों—[illegible] चाहे गुणी न हों—यदि वह [illegible] अशिक्षित [illegible], नुकसानकारक और कल्याणकारक [illegible] करें [illegible] उनकी प्रशंसा न करते हुए, "गुणाः पूजास्थानं" इस कालिदास लिखित के अनुसार, हम लोग सबका उचित आदर अवश्य ही करने लगेंगे। कार्य का आदर करने में—सद्गुणों का सत्कार करने में—कार्यकर्ता का सम्मान करना ही पड़ता है। अमेरिका-निवासियों ने बुकर टी० वाशिंगटन जैसे सद्गुणी और परोपकारी कार्यकर्ता का उचित आदर करने में कोई बात उठा नहीं रक्खी। हारवर्ड-विश्व-विद्यालय ने आपको "मास्टर आफ़ आर्ट्स" की सम्मानसूचक पदवी दी है। अटलांटा की राष्ट्रीय प्रदर्शिनी खोलने के समय, इस प्रान्त के गवर्नर साहब ने वाशिंगटन को आरम्भिक वक्तृता करने का बहुमान दिया है। अमेरिका के प्रेसिडेंट (राजा) ने टस्केजी-संस्था में पधारकर सीधा जाति के अगुआ वाशिंगटन का गौरव करते समय यह कहा कि "यह संस्था अनुकरणीय है। इसकी कीर्ति यहीं नहीं, किन्तु विदेशों में भी बढ़ रही है। इस संस्था के विषय में कुछ कहते समय मिस्टर वाशिंगटन के उद्योग, साहस, प्रयत्न और बुद्धि-सामर्थ्य के सम्बन्ध में कुछ कहे बिना रहा नहीं जाता। आप उत्तम अध्यापक हैं, उत्तम वक्ता हैं और सच्चे परोपकारी पुरुष हैं। इन्हीं सद्गुणों के कारण हम लोग आपका सम्मान करते हैं।"

उपसंहार

सोचने की बात है कि जिस आदमी का जन्म दासत्व में हुआ, जिसको अपने पिता या पूर्वजों का कुछ भी हाल मालूम नहीं, जिसको अपनी बाल्यावस्था में स्वयं मज़दूरी करके पेट भरना पड़ा, वही इस समय अपने आत्म-विश्वास और आत्म-बल के आधार पर कितने ऊँचे पद पर पहुँच गया है। बुकर टी० वाशिंगटन का जीवनचरित पढ़कर कहना पड़ता है कि "नर जो पै करनी करै तो नारायण ह्वै जाय।" प्रतिकूल दशा में भी मनुष्य अपनी जाति, समाज और देश की कैसी और कितनी सेवा कर सकता है, यह बात इस चरित से सीखने योग्य है। यद्यपि हमारे देश में अमेरिका के समान दासत्व नहीं है तथापि, वर्तमान समय में, अस्पृश्य जाति के पांच करोड़ से अधिक मनुष्य सामाजिक दासत्व का कठिन दुःख भोग रहे हैं। क्या हमारे यहां, वाशिंगटन के समान, इन लोगों का उद्धार करने के लिए—सिर्फ़ शुद्धि के लिए नहीं—कभी कोई महात्मा उत्पन्न होगा? क्या इस देश की शिक्षा-पद्धति में शारीरिक श्रम की ओर ध्यान देकर कभी सुधार किया जायगा? जिन लोगों ने शिक्षा द्वारा अपने समाज की सेवा करने का निश्चय किया है क्या वे लोग उन तत्वों पर उचित ध्यान देंगे जिनके आधार पर हैम्पटन और टस्केजी की संस्थायें काम कर रही हैं? जिस समय हमारे हिन्दू और मुसलमान भाई अपने लिए स्वतन्त्र विश्वविद्यालय स्थापित करने का यत्न कर रहे हैं

इस समय यह आशा करना व्यर्थ न होगा कि स्वराज्य के हमारे यहाँ निरुद्योगी और निकम्मे राजपुरुषों ([illegible]) की संख्या घट जायगी और परिश्रमी [illegible] सेवकों की संख्या बढ़ जायगी। अन्त में यही प्रार्थना है कि परमेश्वर हम लोगों को अज्ञान-जड़ता के बन्धन से मुक्त होने तथा बुकर टी० वाशिंगटन के समान आत्मनिर्भरता करने की बुद्धि और शक्ति दे।

[फरवरी १९१४

११—डाक्टर हर्मन जी० जैकोबी

मम्मट, विश्वनाथ, अप्पय-दीक्षित, जगन्नाथराय आदि बड़े-बड़े अलङ्कार-शास्त्रियों की जन्मभूमि, भारत, के बी० ए०, एम० ए० पास युवकों को अलङ्कारशास्त्र पढ़ाने के लिए एक विदेशी विद्वान् बुलाये गये हैं। इनका नाम है—डाक्टर हर्मन जी० जैकोबी। ये जर्मनी के रहनेवाले हैं। जर्मनी में एक जगह बान है। वहाँ के विश्वविद्यालय में आप संस्कृत का अध्यापन-कार्य करते हैं। कलकत्ते के विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने, कुछ समय के लिए, आपको कलकत्ते बुलाया है। वहाँ आप उस विश्वविद्यालय के ग्रेजुएटों को अलङ्कारशास्त्र पढ़ावेंगे—अलङ्कारशास्त्र पर आप लेक्चर देंगे। कलकत्ते में संस्कृत के अनेक बड़े-बड़े विद्वान्, शास्त्री और आचार्य हैं। क्या ही अच्छा हो यदि उनमें से कोई इस बात पर एक लेख प्रकाशित करने की कृपा करें कि डाक्टर महाशय के अलङ्कार-शास्त्र-विषयक लेक्चरों में क्या विशेषता है। अथवा यदि उनके लेक्चर ही छपाकर प्रकाशित कर दिये जायँ तो और भी अच्छी बात हो। इससे इस देश के आलङ्कारिक पण्डितों की आँखें तो खुलें कि इस तरह नहीं, इस तरह यह शास्त्र पढ़ाया जाता है।

सुनते हैं, डाक्टर जैकोबी संस्कृत के बड़े भारी ज्ञाता हैं। उनका जो चित्र हिन्दुस्तान की "सरस्वती" में निकल चुका है उससे अधिकवयस्कता के संयोग किया है। इससे डाक्टर साहब की विद्वत्ता का वर्णन हो चुका है। "कालेजियन" नामक एक शिक्षाविषयक सामयिक पत्र के सम्पादक ने भी आपकी बड़ी प्रशंसा प्रकाशित की है। उस सामयिक पत्र के सम्पादक का कथन है कि संस्कृत में जितने शास्त्र हैं प्रायः सबों में डाक्टर जैकोबी की अबाध गति है। संस्कृत का व्याकरण साहित्य, संस्कृत का छन्दःशास्त्र, संस्कृत का काव्यशास्त्र, संस्कृत का न्याय, वैशेषिक और वेदान्त-शास्त्र—सभी आपके करतल के आमलक हो रहे हैं। ज्योतिषशास्त्र में भी आप निष्णात हैं। प्राकृत भाषायें भी आप जानते हैं, और इस देश की वर्तमान-कालिक भाषायें भी। जैन और बौद्ध-शास्त्रों के ज्ञान के तो आप महासागर ही हैं। आपने अनेक नई-नई बातें ढूँढ़ निकाली हैं। आपकी विद्वत्ता को देखकर देश-विदेश, सभी कहीं, के पण्डित आश्चर्य करते हैं। "कालेजियन" के सम्पादक का यही मत है।

जैन-साहित्य से तो डाक्टर साहब का बहुत ही अधिक परिचय है। उस दिन बनारस में जैनों का जो महोत्सव हुआ उसमें डाक्टर साहब भी निमन्त्रित हुए थे। वहाँ आपका बड़ा आदर-सत्कार हुआ। जैनों ने आपकी स्तुति और प्रशंसा से पूर्ण एक अभिनन्दनपत्र भी आपको दिया।

डाक्टर जैकोबी का जन्म १८५० ईसवी में हुआ। बर्लिन और बान के विश्वविद्यालयों में संस्कृत और तुलनामूलक भाषा-शास्त्र आपने पढ़ा। १८७२ में आपको दर्शनशास्त्र के आचार्य्य की पदवी मिली। इसके बाद एक वर्ष तक आप लन्दन में रहे। १८७३ में आप डाक्टर बूलर के साथ हिन्दुस्तान आये। यहीं आपका परिचय जैन-धर्म और जैन-साहित्य से हुआ। तभी से आपने इन विषयों का अध्ययन आरम्भ कर दिया और धीरे-धीरे इनमें ख़ूब पारङ्गत हो गये। स्वदेश को लौट जाने पर कई विश्वविद्यालयों में आप संस्कृत पढ़ाते रहे। १८८६ ईसवी में आपकी बदली बान के विश्वविद्यालय को हो गई। आपने जैनों के कल्पसूत्र नामक ग्रन्थ का सम्पादन करके उसे प्रकाशित किया और उसकी भूमिका में यह सिद्ध किया कि जैन-धर्म बौद्ध-धर्म की शाखा नहीं; वह बौद्ध-धर्म से बिलकुल ही जुदा धर्म है। इसके बाद आप ने हेमचन्द्र-कृत परिशिष्ट-पर्व्व का प्रकाशन किया और कई जैन-ग्रन्थों का अनुवाद भी योग्यतापूर्वक निकाला। जर्मनी के विद्यार्थियों के लाभ के लिए प्राकृत-भाषा-विषयक एक पुस्तक भी आपने लिखी। 'ध्वन्या-लोक' तथा 'अलङ्कारसर्वस्व' का अनुवाद भी, जर्मन भाषा में आपने कर डाला। पण्डित बालगङ्गाधर तिलक की तरह आपकी भी राय है कि वैदिक सभ्यता बहुत पुरानी है। योरप के विद्वान् उसे जितनी पुरानी समझते हैं उससे भी वह बहुत पहले की है।

[मार्च १९१४
